श्रीऋषभ ब्रह्मचर्य्याश्रम,

(दिगम्बर जैन गुरुकुल) चौरासी, मथुरा ।

यही एक ऐसी सामाजिक संस्था है, जो प्रायमरी पास बालकों को प्रविष्ट करके कम से कम १८ वर्ष की अवस्था तक रखकर उनको सु-संस्कारी, स्वावलम्बी उच्च कोटि के धार्मिक मार्मिक विद्वान् बनाती है। इसमें धार्मिक क्रिया-काण्ड के साथ उच्च कोटि की धर्म शिक्षा तो दी ही जाती है, किन्तु साथ ही न्याय, व्याकरण, साहित्य, गणित, भूगोल, अंग्रेजी आदि व्यावहारिक शिक्षा के साथ औद्योगिक शिक्षा भी (जैसे कपड़ा, दरी, निवार, फीता, गलीचा आदि बुनना और प्रत्येक प्रकार का कपड़ा सीना आदि) दीजाती हैं। अतएव प्रत्येक जैनी को अपने होनहार तीक्ष्ण बुद्धि के बालक प्रविष्ट कराकर लाभ उठाना चाहिये, तथा प्रत्येक माँगलीक प्रसंगों व पर्वों पर सदैव इसकी सहायता करते और कराते रहना चाहिए और यथावसर इसका निरीक्षण परीक्षण करके अपनी शुभ सम्मति देकर इसे विशेष उन्नत बनाना चाहिए।

निवेदक—

मन्त्री—श्रीऋषभ ब्रह्मचर्य्याश्रम,

गुरुकुल, चौरासी, मथुरा।

सन्मतिसुमनमाला 卐 सुमन दसवां

* पतन से उत्थान *

लेखक—

श्रीयुक्त धर्मरत्न पं. दीपचन्द जी वर्णी

नरसिंहपुर सी. पी. निवासी।

प्रकाशक—

सेठ मोहरीलाल चाँदमल जी,

गंगवाल दि० जैन,

नबा माधोपुरा, अहमदाबाद।

मुद्रकः—
पं. पुरुषोत्तमदास मुरलीधरशर्मा
हरीहर इलैक्ट्रिक मशीन प्रेस,
मथुरा।

आवश्यक निवदेन

जब कि अनेकानेक जातियां तन, मन, धन से अपनी उन्नति में अग्रसर हो रही हैं, तब हमारी जैन समाज अभी गाढ़ निद्रा में ही मग्न है -- यह क्या भला कम सोचनीय है। बस ! जैन समाज की इसी वर्तमान परिस्थिति पर दृष्टिपात करते हुए, नरसिंहपुर निवासी धर्मरत्न पूज्य पं० दीपचन्द्र जी वर्णी ने प्रकृत पुस्तक लिखकर हमारी मरणोन्मुख जैन समाज को नवीन जीवन प्रदान करने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में पूज्य वर्णी जी ने समाज एवं तदन्तर्गत धार्मिक संस्थायें तथा विद्यार्थियों की जो स्पष्ट आलोचना की है वह तो प्रत्यक्ष अनुभूत ही है। मुझे आशा है, कि इस पुस्तक को पढ़कर हमारी अवनत जैन समाज उस गाढ़ निद्रा को भङ्गकर अपनी दुरवस्था पर आँसू बहावेगी और पूज्य वर्णी जी द्वारा इस पुस्तक में बतलाए गये उपायों का आलम्बन अवश्य करेगी।

अन्त में मैं उन पूज्य वर्णी जी महाराज को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, कि जो शरीर से अस्वस्थ होते हुए भी अहर्निश धर्म एवं समाज के उद्धार की इतनी चिन्ता रखते हैं और तदनुसार वर्ष में १—२ पुस्तकें भी लिखते रहते हैं।

ॐ शान्ति !

ऋषि पञ्चमी,
वीर नि. २४६२।

निवेदक---
बालचन्द्र शास्त्री,
सोरई (झांसी)

पतन से उत्थान ।

— अर्थात् —

दिगम्बर जैन धर्म और समाज की परिस्थिति और उसके सुधार के उपाय ।

यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि सब दानों में विद्या दान ही प्रधान दान है, जो कि विद्याप्रदायिनी संस्थाओं को द्रव्य, पुस्तक, व आवश्यक उपकरण आदि देने से, विद्यार्थी, बालक, बालिकाओं तथा नर नारियों को भोजन, वस्त्र, पुस्तक आश्रय आदि देने से तथा सर्व-साधारण साक्षर नर-नारियों को उनकी योग्यतानुसार उनकी भाषाओं में लिखित या मुद्रित धार्मिक तथा नैतिक शास्त्रों के देने से होता है।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है जिसका विकास प्रत्येक प्राणी में उसके क्षयोपशम के अनुसार होता है। संसार में कोई भी ऐसा प्राणी न मिलेगा, जिसमें ज्ञान का सर्वथा अभाव हो, किन्तु समस्त चर-अचर प्राणियों में न्यूनाधिक रूप से (थोड़ा बहुत) ज्ञान अवश्य ही पाया जायगा। संसारी प्राणियों में, जिनमें जितनी २ इन्द्रियां कम हैं, उनमें उतना २ ज्ञान भी कम है और जिनके जितनी २ इन्द्रियां अधिक हैं, उनमें उतना २ ज्ञान भी अधिक होता है। सब इन्द्रियां पांच हैं और एक मन (अनिन्द्रिय = अभ्यन्तर इन्द्री) है। एकेन्द्री से दो

विषय वासनायें, फैशन, निर्बलता, झूठी सभ्यता, स्वार्थ व्यक्तिगत बढ़ रहे हैं। तीसरे प्रारम्भ से धर्म संस्कार नहीं डाले जाते न पाप भीरु बनाया जाता है। चौथे पुरुषार्थ-(उद्योग) नहीं सिखाया जाता। पांचवें कुसङ्ग रहता है। छठे धूर्त, बदमाश खुशहाल और सच्चे धर्मात्मा दुःखी देखे जाते हैं – ऐसी दशा में अनेक लोगों ने परोपकार के नाम पर अनेकानेक प्रगट और गुप्त संस्थायें खोल रखी हैं, जिनका उद्देशमात्र छल-बल न्याय या अन्याय से धन कमाना है।

इसी प्रकार कितनेक विद्यार्थी भी लोगों को अपनी ग़रीबी व असमर्थता का दम्भ बताकर खूब रुपया मंगा लेते हैं और उससे मनमानी मौज शौक उड़ाते रहते हैं, इससे ये पढ़ तो पाते नहीं और कदाचित् पढ़कर परीक्षा भी पास करली, तो भी परीक्षा के अनन्तर कुछ भी ज्ञान इनमें नहीं रहता। ये कोरे के कोरे बने रहते हैं न विद्या रहती है, न उद्योग हुनर ही आता है, परन्तु फैशनेबुल, खर्चीला और सुखिया जीवन बिताना सीख जाते हैं। जब ये विद्यालय छोड़ते हैं, तब इन पर यकायक खर्च का भार आ पड़ता है और आमदनी का मार्ग छात्रवृत्ति आदि बन्द होजाते हैं। धन्धा उद्योग सीखे नहीं, घर में पूंजी व जायदाद नहीं, या जायदाद सम्हालने की बुद्धि नहीं, घर में जो बाप-दादों का छोटा-मोटा धन्धा, बंजी भौंरी, या परचूरण, आटा, दाल घी, गुड़, नमक, तेल, हलदी आदि का न तोलना, बेचना, ख़रीदना आता है और न यह धन्धा उनको पसन्द ही पड़ता है। मिहनत मजदूरी होती नहीं और नौकरी मिलती नहीं। यदि दैवयोग से कहीं १५-२० पर लगे भी तो योग्यता के अभाव में वहां से पृथक् कर दिये जाते हैं। "अब वे क्या करें" यह प्रश्न खड़ा रह जाता है।

जो हो अपना और अपने अधीनस्थ स्त्री, पुत्र आदि के भोजन-वस्त्रादि का प्रबन्ध और वह भी अपटूडेट होना चाहिए, इसके बिना तो

दिन नहीं कट सकता। ऐसी दशा में या तो वे आत्मघात करके जीवन से छुटकारा पा लेते हैं या फिर कोई दम्भ (जिसका भावी फल नरकादिकुगति हो या वर्तमानमें राज दण्ड पञ्च दण्डादि मानसिक और शारीरिक यातनाएँ हों) रच लेते हैं, ऊपर से धर्म व परोपकार की कलई लगाकर सुनहली रुपहली रूप दिखाते हैं और भीतर पाप रूपी तांबा लोहा होता है। सत्य ही कहा है—

बुभुक्षिता: किं न करोति पापम् ?
क्षीणा: नरा: निष्करुणा भवन्ति ॥

अर्थात् भूखा कौन सा पाप नहीं करता अर्थात सभी करता है और क्षीण (निर्बल) दया रहित होता है। बस ! इनकी यही दशा होती है, जो प्रत्यक्ष है।

क्योंकि इन में व्यावहारिक विद्या बुद्धि नहीं, सदाचार के अभाव से रूप व बल नहीं, अर्थ पुरुषार्थ के अभाव और अनावश्यक (दिखाऊ) खर्च के कारण धन का भी अभाव है, ऐसी दशा में यदि ये मार्गच्युत हो जावें तो आश्चर्य ही क्या है ?

इसलिए यदि समाज के उदार ज्ञानी सज्जन कुछ विवेक बुद्धि से कार्य करें, तो दम्भी संस्थाएँ और व्यक्तियों को उत्तेजना न मिले और सच्ची संस्थाओं तथा व्यक्तियों को सहायता मिलने से उनकी आवश्यक कमी की पूर्ति हो जाय, इस प्रकार "साधु अनुग्रह दुर्जन दण्ड" दोनों ही कार्य सध जावें, इसके लिए उपाय यह है, कि हमको जिन संस्थाओं का पूर्ण परिचय है, उनको तो यथावसर सदैव ही शक्ति अनुसार बिना सङ्कोच सहायता करते रहें तथा अपने इष्ट व अन्यजनों से प्रेरणा करके सहायता पहुंचाते रहें, परन्तु जो संस्थाएँ नवीन खुली

हों व खुलने वाली हों अथवा जिनका कुछ भी परिचय न हो और वहां की अपील आवे, तो उनके सम्बन्ध में पूर्ण जाँच किए बिना केवल अपील के छपे फार्म या चिट्ठियों पर से या चन्दा कराने को आए हुए व्यक्ति के कहने मात्र से द्रव्यादि नहीं दे देना चाहिए और न उपेक्षा ही करना चाहिए, क्योंकि नवीन या अपरिचित संस्थाएँ सच्ची भी हो सकती हैं और झूठी भी, इसलिए जहाँ की संस्था की अपील है, वहां के प्रसिद्ध पुरुषों से अथवा उस जिले या प्रान्त के प्रसिद्ध व्यक्तियों से उन संस्थाओं के बाबत खूब छान बीन करना चाहिए,पश्चात् द्रव्य भेजना चाहिए, द्रव्य की आफीसल रसीद प्राप्त करके किसी समाचार पत्र में दान की रकम संस्था का नाम जिसके द्वारा रकम दी या भेजी हो, उसका और अपना नाम ग्राम पूरा पता प्रगट कर देना चाहिए, जिससे धोखा न हो, द्रव्य का सदुपयोग होवे अथवा दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी हीराबाग़ बम्बई के पास वह रकम, उस संस्था के नाम से सहायतार्थ भेज देना चाहिए और लिख देना चाहिए, कि यदि उक्त नाम की कोई सुचारु रीत्या चलने वाली संस्था हो तो निश्चय करके यह रकम वहाँ भेज दीजिए और उसकी रसीद नियमानुसार भिजवा दीजिए। इसी के साथ समाचार पत्रों में भी ऊपर बताए अनुसार सूचना दे दीजिए कि हमने अमुक संस्था की सहायतार्थ अमुक रकम तीर्थ क्षेत्र कमेटी बम्बई में जमा करदी है इत्यादि।

ऐसा करने से दम्भी संस्थाओं को मदद नहीं मिलेगी, द्रव्य का सदुपयोग होगा, यदि वास्तव में वह सच्ची संस्था होगी, तो वहाँ से उसको वह द्रव्य मिल जायगा, यदि दम्भी होगी तो आपका द्रव्य सुरक्षित रहेगा और उसे आप किसी अन्य सुयोग्य संस्था में भेज सकेंगे।

इस विषय में सचेत करने का हेतु यह है, कि इस समय बेकारी और बहुखर्ची आदि कारणों से ऐसी दम्भी संस्थाएँ जहां तहां बहुत

खुल रही हैं, उन में दो चार गैर जिम्मेदार व्यक्ति मन्त्री सभापति खजाञ्ची आदि के नाम रख लेते हैं, नियमावली व उद्देश भी आकर्षक बना कर छपा लेते हैं। बनावटी रिपोर्ट भी निकाल देते हैं और प्रचारक भी भेज देते हैं, इस प्रकार धूर्तता से समाज के भोलेपन के कारण ये लोग दम्भ में सफल हो जाते हैं, आखिर भण्डा फोड़ हो जाता है, क्योंकि "सदाकत छिप नहीं सकती बनावट के उसूलों से। क्या खुशबू है आसकती कभी काग़ज़ के फूलों से॥"

ऐसी संस्थाएँ भारत में भी बहुत हो गई हैं, जिनका समाचार यथावसर मिला करता है, परन्तु खेद तो इस बात का है, कि इस पवित्र जैन समाज में भी ऐसी संस्थाएँ होने लगी हैं। अभी हाल ही में आगरा के फूलचन्द जैन को तथा अकोला के कस्तूरचन्द जैन को जेल की सजा इसी हेतु हुई है, कि उन्होंने विधवाश्रम खोल रखे थे और अनाचार के द्वारा धन समाज से लूटते थे।

प्रचारकों में से उन्हीं को द्रव्य देना चाहिए, जो प्रसिद्ध व परिचित संस्थाओं की ओर से आए हों, जिन के पास संस्था की रसीद-बही वहाँ की मुहर वाली हो और वहाँ के मन्त्री अधिष्ठाता आदि का हस्ताक्षरी पत्र उनके निकट हो और इतने पर भी सन्देह हो तो रकम उनको न देकर सीधी संस्था में भेज देना चाहिए और आफीसल रसीद प्राप्त करना चाहिए।

हमारे कितने ही सरल व भोले सज्जन रसीद भी नहीं लेते, कह देते हैं, रसीद फसीद का क्या करना है? परन्तु उनकी यह बड़ी भूल है, कुछ भी सहायता (नकद हो व उपकरण पुस्तक, वस्त्र, बासन, फरनीचर आदि) देओ कि तुरन्त रसीद ले लो। सम्भव है, बिना रसीद का द्रव्य संस्था में जमा न हो और ऊपर ही ऊपर उड़ जावे। इसलिए रसीद लिए बिना कभी किसी संस्था को कुछ न दो।

यदि भोजन कराना हो, तो सामने बनवाकर खिलादो या भोज्य पदार्थ (फल, मेवा, मिष्टान्न) व वस्त्रादि स्वयं बाँट दो या सामने बँटवादो, यदि मकान बनवाना हो, तो स्वयं अपने गुमाश्ता या स्थानीय किसी प्रसिद्ध पुरुष के सामने कार्यारम्भ कराके जैसा २ कार्य होता जाय अपनी सामर्थ्य व स्वीकारता के अनुसार द्रव्य देते जाओ और कार्य पूर्ण करा दो।

क्योंकि अनेकों बार समाचार छपते हैं, सोनागिर के पण्डे छड़ी चपरास नकली लेकर तीर्थ के नाम पैसे उघराते हैं। अतः सावधान रहें।

या अमुक संस्था से अमुक प्रचारक का सम्बन्ध नहीं है या छूट गया है, उसे कोई द्रव्य न देवें, सीधा संस्था में भेजें इत्यादि।

इसी प्रकार समाज के भावी कर्णधारों (होनहार विद्वान धर्मोपदेशक धर्माचार्य आदि) के सम्बन्ध में भी विचार करना है।

स्कूल, कालेज तथा विद्यालयों से पढ़ कर निकलने वाले विद्वान् ही तो हमारी समाज के भावी कर्णधार (नेता) अध्यापक, धर्मोपदेशक, धर्माचार्य संयमी त्यागी व्रती हो सकते हैं। अतएव इनके शिक्षण और संरक्षण का ध्यान समाज के दानी उदार चरित सज्जनों और कार्यकर्ताओं को कितनी सावधानी से करना चाहिए। यह वे स्वयं सोच सकते हैं, क्योंकि इन्होंने साधारण जनता का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले रक्खा है, क्योंकि जन साधारण तो समर्थ वा असमर्थ अवस्थाओं में इनकी गोद में अपने बालकों को सौंप देते हैं, इसी आशा तथा विश्वास पर कि अमुक संस्था में, अमुक समय तक हमारा बालक रह कर सुयोग्य, विद्वान्, कला कौशल युक्त, उद्योगी, धार्मिक, व्यवहार कुशल, सदाचारी, पुरुषार्थी प्रामाणिक सद्गृहस्थ के योग्य

लक्षणों वाला, स्वावलम्बी, स्वास्थ चित्त और शरीर वाला, स्वकुल समाज तथा देश को गौरवान्वित बनाने वाला, पितादि गुरुजनों का आज्ञाकारी, विनयी, नम्र व उदार भाव वाला, दीर्घ दृष्टि, धीर-वीर, निरोगी, साहसी आदि न जाने और भी कितनीक आशा कल्पनायें व विश्वास के साथ वे संस्थाओं में दाखिल कराकर निवृत्ति पा लेते हैं।

दूसरी ओर संस्थाओं के सञ्चालक अपना मात्र इतना उद्देश या उत्तरदायित्व समझे बैठे हैं या समझते हैं, कि येन केन प्रकारेण बालकों को अमुक डिग्री (पदवी) प्राप्त करा देना और फिर लम्बी, चौड़ी, रिपोर्ट संस्था की छपाकर जनता व उदार धनिकों का चित्त आकर्षित करके द्रव्य (सञ्चालन खर्च) प्राप्त कर लेना। अध्यापकवर्ग मात्र पुस्तकों का पाठ, पठनक्रमानुसार पूरा करा देने और परीक्षोत्तीर्णता प्राप्त कराने के लिये खास प्वाइन्ट्स बता देना या नोट करा देना मात्र कर्तव्य समझते हैं। तात्पर्य- किसी प्रकार बालक उत्तीर्ण होजाय, भले ही उसे ग्रन्थ का विषय उपलब्ध हो या न हो। समझता हो या न समझता हो, वह सदाचारी रहे या कदाचारी बन जावे, कुछ भी इसकी उनको पर्वाह नहीं। उन्हें तो नाम से प्रयोजन कि हमने इतने तीर्थ कराये या ग्रेजुएट बनाए। भले ही फिर वे अपने अनुभव शून्यता या विद्या के कारण आजीविका विहीन हुए मारे मारे फिरें, भूखे मरें, अपघात करें या चोरी अन्याय आदि करके जीवन निर्वाह करें, भले ही उनका भावी जीवन कष्टमय, भार रूप या अपकीर्ति का हेतु हो, इससे इनको क्या? इनको तो कार्यकर्त्ताओं को प्रसन्न रखकर अपनी तरक्की कराना मात्र इष्ट है।

सरकारी शालाओं में इन्हीं बातों को देखकर समाज व देश के नेताओं ने देश और समाजों में कुछ प्राइवेट संस्थाओं, विद्यालयों, गुरुकुलों तथा छात्राश्रमों की सृष्टि रचना की, जिससे विद्यार्थियों को

संस्कृत तथा इंगलिश आदि विद्याओं की प्राप्ति के साथ ही साथ धार्मिक शिक्षा भी मिलती जाय, उनके सदाचार की रक्षा बनी रहे तथा आचार विचार न बिगड़ने पावें, खान-पान में भ्रष्टता न आवे, इत्यादि।

परन्तु देखा जाता है कि ये (प्राइवेट) संस्थाएं भी उन्हीं संकीर्ण शालाओं का बहुतांश में अनुकरण कर रही हैं। इनमें शिक्षा पाने वाले बालक, भले ही वे अंग्रेजी विभाग के हों या संस्कृत विभाग के हों, "अपटुडेट" फैशन से रहते हैं। वही अंग्रेजी ढङ्ग के कोट, कमीज पहिरना, उसी प्रकार बाल रखना, उसी प्रकार वस्त्रों में स्त्री आदि कराना तथा भोजन पान में भी शिथिलता रखना, भक्ष्याभक्ष्य का विचार न रखना, बाजारू पदार्थ-मिठाइयां, चांट, सोडा, लेमनेड, चाय, बिस्कुट आदि खाना, रात्रि को खाना, अंग्रेजी विदेशी (अपवित्र) दवाइयां खाना, नाटक, सिनेमा आदि देखना, धर्म शिक्षा को बेगार समझना, असावधानी से मात्र नियम पालनार्थ पढ़ लेना आदि।

मैंने स्वयं प्राइवेट शिक्षा संस्थाओं में काम किया है और यों भी महीनों रहकर इन सब बातों का अनुभव किया है। इन विषयों में शिक्षकवर्ग और कार्यकर्ता गण उदास रहते हैं। वे जानते हुए भी आंख मिचौनी किया करते हैं, क्योंकि उनको भय रहता है कि कहीं हमारा विद्यार्थी रुष्ट होकर किसी अन्य संस्था में न चला जाय (जैसा कि होता रहता है) क्योंकि उसके चले जाने से ये अपनी इतने दिन की मिहनत बेकार हुई समझते हैं। कारण कि पढ़ाया इन्होंने, परीक्षा दी गई दूसरे अध्यापक और संस्था के नाम से। इसलिये इनकी संस्था की रिपोर्ट में वह उत्तीर्ण नहीं दिखाया जा सकता और अन्य संस्था मुफ्त में ही नाम कमा लेती हैं और साधारण जनता रिपोर्ट मात्र

देखकर ही संस्था के कार्य का भला बुरा निर्णय कर लेती है, न परीक्षा दिलाने वाली संस्था कभी यह प्रगट करती है, कि यह बालक अमुक समय से यहाँ अभ्यास कर रहा है, इसके पहिले इसने अमुक अमुक परीक्षाएँ अमुक संस्था से दी हैं और न आगन्तुक छात्र से पूर्व संस्था का प्रमाण पत्र ही लेकर भर्ती करती है, उसे तो पढ़ा पढ़ाया तैयार बालक मिल गया जो ४–६ माह या १ साल में ही तीर्थ आदि परीक्षा देकर संस्था से उत्तीर्णता प्राप्त कर लेवेगा और संस्था को सुन्दर रिपोर्ट बनाने का सुवर्ण अवसर मिल जायगा, भले ही सहयोगिनी संस्था को हानि पहुँचे, इसका उनको कुछ भी ध्यान नहीं रहता, इसीलिए ये संस्थाएँ बालकों पर अंकुश नहीं रख सकतीं, उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति को नहीं रोक सकतीं। इतना ही नहीं, किन्तु अनेक संस्थाएँ कुछ प्रलोभन भी देती हैं, जिससे अन्य संस्था के छात्र अन्य संस्था में आकर्षित हुए चले आते हैं।

फल इसका यह होता है, कि बालक स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले हो जाते हैं, उनका सदाचार, गुरु–भक्ति, कृतज्ञता, विनय, स्वावलम्बन आदि गुण नष्ट हो जाते हैं और बदले में उद्दण्डता उच्छृङ्खलता, कायरता, गुरु–द्रोह, कृतघ्नता, पराधीनता, सुखिया स्वभाव, भीरुता, झूठ, कपट, मायाचार आदि अनेकों दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

खेद है, कि अध्यापक और संस्थाएँ इन विषयों में अपना उत्तर–दायित्व ही नहीं समझतीं और न समाज ही इस पर लक्ष्य देती है, कि अमुक पण्डित जो अमुक अमुक परीक्षा पास हैं और जो अपने पठित ग्रन्थों को अन्य छात्रों को पढ़ाने में असमर्थ है अर्थात जिसे अपने पठित विषय आते ही नहीं हैं, न वे शास्त्र पढ़ सकते हैं, न धर्म शास्त्र का ज्ञान है, न खान-पान की शुद्धि का विचार है, न जैन धर्म

की क्रिया आचरण, पानी छानना, भोज्य पदार्थों की मर्यादा, भक्ष्याभक्ष्य को ही जानते हैं, जिनके वचन की प्रतीति नहीं, एक जगह स्वीकारता देते हैं, अन्य जगह चले जाते हैं, स्वीकारता पाने वाले आशामें बैठे रहते हैं, किसी संस्था का कार्य करते हुए गुप-चुप अन्य अन्य स्थानों में लिखा-पढ़ी करते रहते हैं और फिर बिना पहिले से चेतावनी दिए ही अचानक उस संस्था को हानि पहुंचा कर चले जाते हैं या अमुक स्थान से शास्त्रादि वस्तुएँ छुपा कर ले जाते हैं, इत्यादि प्रकार के ये पण्डित महाशय किस या किस २ संस्थाओं से परीक्षोत्तीर्ण होकर आए हैं, इनके अध्यापक महाशय कौन कौन हैं? इसके जानने और उनको हिदायत देने का कष्ट समाज कभी भी नहीं उठाती और न कभी कोई संस्था या संस्थाएँ या उनके अध्यापक व संचालक ही कभी इस का विचार करते हैं, कि हमारे छात्र कहाँ २ कैसा कार्य कर रहे हैं। हाँ! यदि कोई आदर्श छात्र कहीं हुआ तो गौरव से उसका नाम ले देंगे, परन्तु यदि अनादर्श हुआ तो कभी यह सोचने का भी कष्ट न करेंगे, कि यह ऐसा क्यों हुआ तथा न ऐसा सुधार योग्य प्रयत्न ही करेंगे कि भविष्य में ऐसा न होने पावे, जब जिम्मेदार समाज, संस्थाएँ और अध्यापकों का ये हाल है, तो छात्र तो छात्र ही हैं, वे क्यों विचारने चलें?

यद्यपि ये बातें कटुक सी प्रतीत होती होंगी, परन्तु विचार करने पर सत्य प्रतीत होंगी, मैं कतिपय दृष्टान्त नाम और ग्राम निर्देष बिना बतौर नमूना पेश करता हूँ, उन पर से बिचार करने का अवसर मिलेगा।

गुजरात के प्रांतिज ग्राम में एक डबल न्यायतीर्थजी एक श्वेताम्बर साधु को पढ़ाने आए थे, वे एक महीना रहे, परन्तु प्रमेयकमल-मार्तण्ड व अष्टसहस्री तो दूर रही, प्रमेयरत्नमाला भी रही, न्याय

दीपिका भी नहीं पढ़ा सके और एक महीना बाद टिकट कटा कर बैरङ्ग लौट गए। लाकरोड़ा में एक पण्डित आए थे वे कहते थे, क्यों जी ! कोयला अगर हम अपने देश से रसोई के लिए मँगाएँ तो ठीक होगा न लकड़ी में तो धुवां होता है।

एक कहते रोटी बनाना तो आता नहीं, ये भटयारखाना कौन करे ? कोई बनाने वाली न मिलेगी (जिनका वेतन मात्र २५) मासिक था और घर का टिकट १०) से ऊपर था) एक महाशय पढ़ाते थे, न्यायतीर्थ थे, लड़कियाँ पढ़ने आती थीं, सो आप एक कन्या पर मोहित होगए और कहने लगे मैं राम हूँ तू सीता है, बस ! बरमाला डाल दो, अपना स्वयम्बर हो जावेगा, ये इसी धुन में पागल बन गए, परन्तु वहां के सज्जनों ने धर्म का अपवाद होता जान कर इनको बिना शिक्षा दिए ही छोड़ दिया और पण्डितों से विश्वास उठ जाने से पाठशाला भी सदा के लिए सो गई। एक जगह दो पाठशालाओं के पण्डितों ने मिल कर मन्दिर की चोरी की, पकड़े गए और एक एक साल को जेल गए, एक पण्डित एक मठाधीश के यहाँ शिष्य बन कर रहे और उसका अवसान करने को मृत्युञ्जय का जप करने लगे, वह सावधान था, बच गया और वे पागल होगए। एक पण्डित काव्यतीर्थ जहाँ रहे, वहां २ से लोगों के रुपया कर्ज लिए और अन्यत्र चल दिए, आज भी उनकी खासी आमदनी है, परन्तु साहूकारों के लिए अंगूठा ही है। एक प्रसिद्ध पण्डित एक अच्छे स्थान में कार्य कर रहे थे, लोग भी उन से प्रसन्न थे, परन्तु वेतन के अधिक लोभ से इकदम वे यहाँ से चल दिए, जिससे वहां के लोगों को बहुत आघात पहुंचा। एक पंडितजी ने एक प्रसिद्ध शहर के लिए श्रीमहावीर जयन्ती के शुभ अवसर पर सभापति होना स्वीकार कर लिया और मार्गव्यय के लिए भेजा हुआ मनीआर्डर भी ले लिया, परन्तु वहाँ न पधार कर अन्यत्र

चले गए, जिससे वहाँ की जनता को बहुत धक्का लगा और दिग० जैनेतर समाज में बहुत हँसी व अविश्वास पैदा हो गया इत्यादि ऐसे अनेकों दृष्टांत हैं, उन सब के कहने की न तो आवश्यकता है और न समय व स्थान ही है, पाठक इतने से ही समझ कर आगामी सुधार का प्रयत्न करें।

यहाँ मेरा किन्हीं व्यक्तियों से कोई विरोध भाव नहीं है, न मैं उनको पब्लिक में नीचा दिखाना चाहता हूं, मेरा विचार मात्र सुधार के लिए ही है।

इसके सिवाय कोई यह न समझ लेवें, कि मैं पण्डितों का व विद्वानों का विरोधी हूँ या बाबू पार्टी का हूं, मैं तो पार्टी बन्दी ही बुरी मानता हूं, पार्टियाँ तो समाज के अध पतन का हेतु हैं, इसलिए मैं किसी पार्टी का नहीं हूं। मैं प्रातःस्मरणीय श्रद्धेय पूज्य श्री कुन्द-कुन्दादि ऋषियों का चरण सेवक और धर्म तथा समाज के महान् उपकारक पण्डितप्रवर टोडरमलजी, सदासुखजी, जयचन्द्रजी, दौलतरामजी भागचन्द्रजी, द्यानतरायजी, भगवतीदासजी, भूदरदासजी, बुधजनजी, गोपालदासजी, गणेशप्रसादजी आदि विद्वानों का चिर ऋणी हूं। इसके सिवाय और भी अनेकों विद्वान जो धर्म व समाज का उपकार कर रहे हैं, ऋणी हूं, कि जिन के प्रसाद से मुझे जिन वाणी के समझने का अपूर्व लाभ मिला व मिल रहा है, मैं तो इनको अपना परम हितू मानता हूं। तब मैंने यहाँ पंडितों के ही अनादर्श नमूने क्यों रक्खे, विशेष कर उन्हीं पर लक्ष्य क्यों गया, क्या अंग्रेजी आदि के विद्वान् ऐसा नहीं करते ?

उत्तर—करते होंगे व करते हैं, परन्तु वे हमारे धर्म के आदर्श नहीं हैं, धर्म शिक्षक नहीं हैं, उन से धर्म का अपवाद उतना नहीं

होता जितना पण्डितों से होता है, क्योंकि ये हमारे धर्म शिक्षक (गुरू) हैं, हमारे बालक बालिकाओं को धर्मात्मा बनाने के ये जिम्मेदार हैं, हम इन पर विश्वास करके अपनी बहिन-बेटियां इनको पढ़ाने के लिए सौंप देते हैं, ये मन्दिरों में धर्म की गद्दी पर बैठ कर उपदेश करते हैं, इस लिए इनके जैसे भाव व आचरण होंगे, वैसा ही असर हमारे बेटा, बेटियों, पर पड़ेगा, यदि ये सदाचारी, सत्य-भाषी, दयालु जैन धर्म की गृहस्थोचित क्रियाओं में सावधान, धर्मश्रद्धालु, मंद कषायी होंगे तो हमारी समाज का भावी भाग्य उज्ज्वल होगा। अतएव हम को तो इन्हीं की ही टीका करना है, यदि ये सुधर गए—स्वयं आदर्श बन गए, तो उनके सुधरने में देरी न लगेगी, क्योंकि इनकी आत्माओं के पवित्र भाव व पवित्र आचरण उन पर प्रभाव डाल सकेंगे, ये उनको प्रेम से, मधुर बचनों से, युक्ति और आगम प्रमाणों से, विज्ञान के बल से, अपने आदर्श चरित्र से, द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार अपने अनुभव से, धर्माविरुद्ध उपदेश देकर शीघ्र मार्ग में ला सकेंगे।

मैं पुनः कहता हूँ, कि मेरे कहने का कोई विद्वान् समाज या संस्थाएँ बुरा न माने और देखें, कि वर्तमान प्रणाली उनको कितनी हानिकर है।

ध्यान रखिए, सदैव से यही नियम है, कि उच्चादर्श रखने वाला पुरुष वह चाहे कम भी पढ़ा हो, जितना प्रभाव जनता पर डाल सकता है, वह हीनाचारी बहुश्रुत भी नहीं डाल सकता। मानलो कोई स्वयं रात्रि भोजन करता है, अंग्रेजी दवाइयां खाता है, होटलों में से लेकर या बाजारू पूरी शाक, रोटी, मिठाइयां, चांट, वरफ, सोडा, लेमनेड, विस्कुट आदि खाता है, स्टेशनों की चाय, दूध व नलों का पानी और वह भी बगैर छना पीता है, मिलों का पिसा आटा खाता है, कुत्सित हँसी,

मज़ाक करता है, न कभी पूजा करता, न तीर्थ यात्रा, न दान ही भक्ति या करुणा भाव से देता है, येन केन प्रकारेण अपने विषय भोगों में मग्न हैं, अर्थात् जिसने जीवन का आदर्श ही "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्" अर्थात् Eat drink and be merry बना रक्खा है, वह भले ही बड़ा विद्वान्, अनेक भाषाभाषी, वाक्चतुर, धर्म शास्त्रों का ज्ञाता और विद्वान् वक्ता हो, वाद में भी न जीता जा सकता हो, तो भी क्या वह लोगों को सन्मार्ग में लगा सकता है ?

कुछ वर्ष हुए लाला न्यादरमलजी बजाज, दिल्ली वालों ने राजगृही में दि० जैन मन्दिर बनवाकर प्रतिष्ठा कराई थी, मुझे उसमें पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, वहां रात्रि को शास्त्र सभा में सेठ केशरीमल गयावालों ने श्रावक की क्रियाओं के विषय में सूचना की, मैंने तदनुसार क्रियाकोष के आधार कहना प्रारम्भ किया। २० मिनट हुए थे, कि एक पण्डित जी जो बहुत वाचाल हैं, कहने लगे व्याख्यान सभा होना है, पूर्ण कीजिए, नहीं तो जनता उठ जायगी, मैंने वही संक्षेप से पूर्ण कर दिया, बाद व्याख्यान प्रारम्भ हुआ, पहिले वक्ता आप ही हुए और बाबू फैशन पर खूब अमृत वर्षाया, ये होटलों में खाते हैं, जूता पहिरे खड़े २ खाते हैं, भक्ष्याभक्ष्य का इनको ध्यान नहीं होता, इत्यादि बड़े जोश के साथ कहा, लोग बहुत प्रसन्न हुए।

रात्रि बीत गई, सबेरा हुआ, पण्डित जी नहाकर मन्दिर गए और शीघ्र ही दर्शन करके लौट आए, पूजा स्वाध्याय सामायिक तो बिना पढ़ों का काम है, सो ये क्यों करते। अस्तु ! फाटक के बाहर लगी हुई हलवाई की दूकान पर पहुँचे और दही में भीगी हुई पकौड़ी जो पहिले दिन की थी, खरीद कर खड़े २ बंगाली चमड़े की चट्टी पहिने सींक से छेद २ कर रुचि से खारहे थे, इतने में वे ही सेठ केशरीमल जी

और मैं दर्शनार्थ जा रहा था, सो पण्डित जी को खाते देखा। मैं तो चुप रहा, परन्तु सेठ साहब ने पण्डित जी की धूल उड़ादी, तब पण्डित जी "हैं हमतो अव्रती हैं" कह कर पीछा छुड़ा कर चल दिए।

अब सोचो! इनका क्या प्रभाव पड़ेगा? इन्दौर की नसियां मे एक प्रसिद्ध विद्वान् नल की चोटी से बिना छना पानी लेकर कुल्ला कर रहे थे, उनसे एक क्रियावान श्रावग ने पूछा, पण्डित जी आप तो विद्वान् हो और नल के पानी से, तिस पर बिना छने से कुल्ला करते हो? पण्डित जी ने हँसकर उत्तर दे दिया, यह तो फिलटर होकर आता है, इससे प्रासुक है। कहिए! कैसा सुन्दर शिथिलता पोषक उत्तर है। एक जगह महासभा का अधिवेशन था, वहां प्रसिद्ध अप्रसिद्ध लगभग ३०-३५ विद्वान् आए थे, रात्रि को सब्जेक्ट कमेटी थी, सब विद्वान् उपस्थित थे और सभी उठ २ कर पानी पी रहे थे, गर्मी की रात्रि थी, वहाँ भाग्य से कुछ बागीदोरा (बागड़ मेवाड़) के कुछ श्रावक हुँबड़ भाई भी आगए और सबको पानी पीते देखकर उनको बहुत संदेह होगया, क्योंकि उनके नगर में १० वर्ष का बालक भी रात्रि को पानी तक नहीं पीता, वे उन सब में अजैन होने का संदेह कर बैठे, एक उपदेशक ने मन्दिर में उपदेश किया। रात्रि को अन्न खाना, मांस तुल्य और जल पीना रुधिर तुल्य है, कई नर नारियों ने शक्ति प्रमाण त्याग का नियम किया, उपदेशक जी मुकाम पर आए और जिसके यहाँ ठहरे थे, उस से रात्रि ही को दूध और पानी मांगा, घरधनी ने देने से इन्कार कर दिया और कहा, क्या तुम्हारा उपदेश औरों के लिए है? यह 'दिया तले अँधेरा' या 'परोपदेशे पाण्डित्यं' है। उपदेशकजी बोले, भाई हमको भ्रमण करना पड़ता है, हम से नहीं निभ सकता इत्यादि। ऐसी दशा में विचारो कि हमारे धर्म व समाज

की उन्नति कैसे हो सकेगी। कतिपय मुनि शूद्र जल त्यागने को बहुत जोर देते हैं, परन्तु पाइप (नल) के जल का त्याग नहीं करवाते, उनके कई शिष्य श्रावक, प्रतिमाधारी होकर भी नल का जल लेते हैं।

तात्पर्य्य—यह है, कि इस समय हमारी धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था बहुत विचित्र हो रही है। हमारी मार्ग को सुधारने की जो संस्थाएँ थीं, उन्हीं में रोग लग गया है। वे संस्थाएँ ये हैं।

१—संयमी त्यागी वर्ग (मुख्योपदेशक)

२—विद्वान् सद्गृहस्थ (अमुख्योपदेशक)

३—उक्त दोनों प्रकार के उपदेशकों को तैयार करने वाली विद्या संस्थाएँ।

(१) संयमी पुरुषों में मुख्य तो पूज्य मुनिराज होते हैं, उन के बाद एल्लक और क्षुल्लक उत्कृष्ट श्रावक तथा स्त्रियों में आर्यिका एल्लिका तथा क्षुल्लिका (ये तीनों बाह्य भेष में समान ही होती हैं) हैं, सो इनका इस समय होना कठिन है, क्योंकि वर्तमान द्रव्य (शरीर संहनन शक्ति) क्षेत्र, काल और भाव (उपसर्ग तथा परीषह सहन करने की शक्ति तथा चढ़ती हुई वीतराग परिणति) का विचार करने से तो इनकी चर्या आगमानुसार हो नहीं सकती, क्योंकि (१) प्रथम तो इनकी शारीरिक शक्ति ही ऐसी नहीं कि जिससे बहुत समय तक ये क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, अयाचनादि, परीषहों को सह सकें, जिसके अभाव से ही साथ में नौकर रखना पड़ता है, घास (पराल) और बन्द मकानों का सहारा लेना पड़ता है। कोई कोई छोटे छोटे कपड़े के तम्बू भी साथ रखते हैं, घास के अभाव में कागजों का प्रेस का कतरन भी काम में लेते हैं, सिगड़ी आदि से कमरे गरम किए जाते हैं इत्यादि बहुत से आडम्बर और व्यय का बचाव १ लंगोटी चादर और रजाई से सहज

हो सकता है, जैनागम के अनुसार अल्पारम्भ और अल्प परिग्रह से कार्य निकल जावे, तो श्रेष्ठ है, परन्तु अल्प को त्याग कर बहुत को ग्रहण करना और गृहस्थों पर खर्च का भार डालना तथा त्रास पहुंचाना अनुचित है। बहुत जगह घाम नहीं मिलती शान्त, एकान्त, स्वच्छ मकान नहीं होते, ऐसे समय लोगों को बहुत त्रास होता है और भक्ति से या लोकलाज से यह सब करते हैं या उन्हें करना पड़ता है, नौकरों का खर्च भी उन्हें देना ही पड़ता है, जब जब जहाँ जहाँ ये उत्कृष्ट संयमी पधारते हैं, तब तब तहाँ तहाँ लोगों का काम धन्धा छूट जाता है। उनका बहुत आरम्भ और चिन्ता बढ़ जाती है, वे प्रभु से यही प्रार्थना करते रहते हैं, कि भगवन्! सकुशल यहाँ से संयमी जनों का विहार हो जावे तो हमारी लाज रह जावे इत्यादि। इसके सिवाय इन संयमी जनों के आहार निमित्त दूर २ से हरित फल, साक, मेवा आदि पदार्थ मनुष्य भेज भेज कर या पारसलों द्वारा मँगाया जाता है, खास तौर से मकानों की स्वच्छता कराई जाती है, वर्तमान समय में श्रावक श्राविकाएँ क्रिया के अनुसार शुद्ध खान पान तो करते नहीं और न उनको जैनागम की क्रिया का ज्ञान ही होता है। अतएव उनके ग्राम में जब कोई संयमी जनों (मुनि आर्यिका, एल्लक क्षुल्लक या त्यागी ब्रह्मचारी आदि) का शुभागमन होता है, तब वे इकदम घबराहट में पड़ जाते हैं, अब क्या करना चाहिए, कैसे आहार होगा? इसलिए परस्पर पूछते हैं और अन्त में जो रायबुभक्कड़ (साथ में रहने वाले आदमी या नौकर) इनके साथ रहते हैं, उनका सहारा लेते हैं। तब वे लोग इनको खूब बनाते हैं, खरा खोटा कहते हैं, क्रोध बताते हैं या उदारधनी गृहस्थ देखा, तो खुशामद भी करते हैं, स्वयं उनके घर जाकर के भोजन की तैयारी कराते हैं, जो भोजन इनको इष्ट हो, वही बनवाते हैं। इस प्रकार कई घरों में तैयारी होती है, फिर ये स्वयं पड़गाहने खड़े हो जाते हैं।

इस प्रकार आहार हो जाता है, एक दो चार पाँच दिन या चौमासे भर जब तक ये उत्कृष्ट संयमी जिस नगर या ग्राम में रहते हैं, खूब चहल पहल रहती है, इनके शुभागमन के समाचार पहिले से छापों में निकल आते हैं तथा निकलते रहते हैं, इसलिए भक्ति वश दूर २ से नर नारी आते हैं, तब उन सबका प्रबन्ध भी नगर निवासियों को करना ही पड़ता है, इस तरह उनका व्यापार धन्धा एक तरह से बिलकुल ही छूट जाता है। इस प्रकार से इन महापुरुषों के आगमन का लाभ स्थानीय नर नारियों को तो बहुत ही कम मिलता है, आरम्भादिक तथा व्यय बहुत बढ़ जाता है। हम इसको काल का दोष कहें या अज्ञान का प्रभाव कहें? क्या कहें?

कि जहाँ आगमानुसार संयमी जनों के आहार विहार में किसी भी छोटे बड़े प्राणी को कुछ भी त्रास नहीं होता था, न किसी का पाई भी ख़र्च होता था, न लेश मात्र आरम्भ बढ़ता था, किन्तु इसके विपरीत लोगों को बहुत हर्ष और धर्म लाभ मिलता था, वहाँ आज उपर्युक्त परिस्थिति खड़ी होगई है और इस प्रकार से इन उत्तम पुरुषों का धर्मोपदेश प्रथम तो मिलना ही दुर्लभ है और यदि मिलता है, तो बहुत महँगा पड़ता है। इस अवसर में यदि हम संयमी जनों के सम्बन्ध में कुछ दो शब्द कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी, लोग कहते हैं "संयमी जनों का इसमें क्या दोष? यह प्रवृत्ति व अज्ञान तो गृहस्थों का है, उन्हें मुनि के उद्देश से आरम्भादिक न करना चाहिए, तथा मुनि और श्रावकों की क्रिया चर्या आदि का ज्ञान होना चाहिए, न व्यर्थ व्यय करना चाहिए, न दिन भर काम धन्धा छोड़ना चाहिए, समय पर आहार दान देकर अपना व्यापारादि करना चाहिए और समय समय पर उनका उपदेशादि सुनना चाहिए, वे लोग पहिले तो

उल्टी प्रवृत्ति करते हैं और फिर संयमी जनों को दोष लगाते निन्दा करते हैं. यह कहाँ का न्याय है ?

इसका उत्तर यह है, कि वास्तव में गृहस्थों की भूल है, जो वे ऐसा करते हैं ? उनको ऐसा करके ऊपर बताए अनुसार कर्तव्य करना चाहिए, परन्तु वे अज्ञान हैं, संयमी जनों का कर्तव्य है, कि वे उनके अज्ञान का समर्थन न करके उनको सत्य उपदेश देवें, मार्ग बतावें और अपनी ओर से कोई ऐसा दोष व कार्य न होने देवें, कि जिससे उनकी प्रवृत्ति व अज्ञान को सहारा मिले और वह बढ़े, परन्तु यही हो रहा है, देखिये !

मुनि, गृहस्थ से ही तो मुनि हुए हैं, इसलिए उनको गृहस्थों के व्यवहार का ज्ञान तो होता ही है, मुनि हुए पहिले वे भी गृही समाज के अङ्ग थे. इसलिए समाज के आचार विचारों से भले प्रकार परिचित भी रहे हैं, वे वर्तमान द्रव्य (अपने शरीर की संहनन शक्ति) क्षेत्र (वर्तमान विहार आदि का क्षेत्र) काल (वर्तमान की सामाजिक व धार्मिक प्रवृत्ति) और भाव (अपनी आत्मा के ज्ञान दर्शन वीर्यादि गुण तथा अपने कषाय जनित भावों की प्रशमता, संवेग, वैराग्य-भाव, धीरज, सहनशक्ति, परीषहों और उपसर्गों के आने पर समता समतादि गुणों की स्थिरता आदि भावों का अनुभवपूर्वक प्राप्तज्ञान) का ज्ञान तो रखते ही हैं, तब तो मुनि आदि संयमी हुए होंगे।

यदि नहीं रखते अर्थात् वे इन बातों से अनभिज्ञ हैं, तो वे मुनि ही नहीं हो सकते, न एल्लक क्षुल्लक आर्यिकादि श्रावक हो सकते हैं, क्योंकि जो जिस पद का व्रत ग्रहण करता है उसको उस पद तक का अर्थात् उसका और उसके पहिले के पदों का ज्ञान तो होना ही

चाहिए, और आगे का अभ्यास करना चाहिए, जिससे चढ़ते भाव और क्रिया रहे, जो स्वपर कल्याण का हेतु है ।

यदि इतना ज्ञान है, तो वे टीका के पात्र होने योग्य आचरण नहीं कर सकते । अर्थात् (१) वे जानते हैं, कि वर्तमान काल में श्रावकों को धार्मिक क्रियाओं का ज्ञान नहीं है, न वे कम से कम अपने अपने घरों के भोजनालयों में (पाकशालाओं) में ही शुद्ध भोजन पाने के अभ्यासी हैं, यदि किसी २ क्षेत्र में कोई २ अपवाद रूप हैं भी, सो बहुत थोड़े (हजारों में एकादि) और वह भी पूर्ण शुद्ध व प्रासुकाहारी तो नहीं है, जो कुछ ब्रह्मचारी आदि श्रावक हैं, वे सब ही प्रायः गृहत्यागी हो रहे हैं, स्वयं पर घर जीमने वाले हैं, कदाचित् कोई स्वयं पाकी होंगे, सो उनका समागम सर्व क्षेत्रों में नहीं मिल सकता, जो स्वभाव से शुद्ध बनी हुई, अनुद्दिष्ट रसोई मिल सके, यदि त्यागी ब्रह्मचारी के निमित्त की हुई रसोई कहीं शुद्ध अनुद्दिष्ट होवे भी, तो वह एक अमुक घर में, इस लिए वहाँ ही चर्या [गोचरी] हो जावेगी, यह एक कठिन ही बात है और हुई भी तो वह भी भोजन परनिमित्तक है, जो ४६ दोषों में एक है, क्योंकि वह भोजन श्रावक ने अमुक त्यागी के निमित्त ही बनाया है, न कि स्वभाव से अपने लिए, कारण कि उसके स्वयं शुद्ध प्रासुक खान पान का नियम नहीं है न सदैव उसके चौके में शुद्ध बनता ही है, इस लिए यह भी ठीक नहीं हो सकता ।

इसके सिवाय आज कल जिस जगह ये संयमी पधारते हैं, वहाँ कई घरों में खाश भोजन की विधि लगाई जाती है और भोजन में अनेकों प्रकार के पदार्थ लड्डू, हलुआ खीर आदि, नाना प्रकार के शाक फल मेवादि तैयार किए जाते हैं, यह नित्य का व्यवहार है, संयमी

जानते हैं, कि चौके में रोटी, दाल, भात, शाक पूरी के साथ सेव, नाशपाती, अनार, अंगूर, संतरा आदि फल या बादाम, छुहारे, पिश्ता, दाख, काजू आदि मेवा, कभी कोई श्रावक नहीं खाते, इनके खाने का समय पृथक् होता है, तथा प्रत्येक गृहस्थ ये फल मेवादि मिष्टान्नादि नित्य खा भी नहीं सकते, कोई २ श्रीमान् ही भोजन से आगे पीछे खाते हैं, तब इन वस्तुओं का निरंतर प्रत्येक चौके में पाया जाना क्या इस बात को नहीं बताता कि ये खाश तौर पर सयमी जनों के लिए ही किए गए हैं, नया चदोवा, नया स्थान, सिगड़ी आदि क्या चौके की नवीनता को नहीं बताते ? फिर भी आहार होता ही है। तब यह जानकर उद्दिष्ट आहार लेना नहीं है ? और भी देखिए। जबकि वर्तमान यंत्रों के समय में कूँआ, तालाब, नदी आदि जलाशयों का पानी, दिन में घर की हाथ की चक्की का पिसा हुआ आटा तक शहरों मे मिलना कठिन होगया है, क्योंकि घरों घर नल लगे हैं और मिलों में आटा पिसने लगा है, दूसरी ओर फैशन, सुकुमारता [दिखाऊ वड़प्पन] की भरमार है, रोटी बनाना ही जहाँ दुश्वार होगया है, वहाँ पानी भर लाने और आटे पीसने की कौन बला सिर पर लेगा ! और जहां आटे पानी की यह बात है तो श्रावक के घर का विधिपूर्वक बना हुआ घी, मर्याद के अनुसार निकलवाया हुआ शुद्ध दूध, दही आदि पदार्थ, और सो भी बड़े २ दिल्ली, कानपुर जैसे शहरों में नित्य मनों की तादाद में मिलना कठिन ही नहीं, किन्तु असंभव ही है, जहां एक त्यागी के रोटी में चुपड़ने का भी तोला दो तोला कठिनता से मिलता है, वहाँ नित्य मनों घी मिलजाना आश्चर्य ही समझना चाहिए. हाँ ! घी, दूध, आटा, पानी आदि शुद्ध व ताजे पदार्थ ग्रामों में अवश्य ही मिल जाते हैं, परन्तु वहां शाक मेवा फलादि नहीं मिलते, यह कठिनाई है, इसी से संयमी जनों का चौमासा ग्रामों में न होकर शहरों में

ही होता है, और दिनों विहार के समय ग्रामों में १–२ दिन ही रहना पड़ता है, इससे काम चलते रहते हैं, इस लिए भी शाकादि का प्रश्न हल हो जाता है।

जो भी हो, तात्पर्य इतना ही है, कि आजकल अनुद्दिष्ट आहार तो मिलता ही नहीं है, सब जानते हुए उद्दिष्ट आहार लेते हैं, इसके सिवाय कोई २ संयमी ऐसा नियम ले लेते हैं, कि हम दूध, चावल ही लेंगे या मट्ठा [छांछ] ही लेंगे, या फल ही लेंगे, यदि यह नियम व्रतपरिसंख्यान तप के अनुसार लिया जाय और जिसकी खबर गृहस्थों को न हो; तब तो ठीक है, परन्तु गृहस्थों को संयमी जनों के साथ रहने वाले लोग कह देते हैं, महाराज अमुक २ वस्तु ही लेते हैं, अमुक नहीं लेते, तब गृहस्थ वे ही वस्तुएँ जैसे जहाँ से बन सके लाकर रखते हैं, तब यह भोजन उद्दिष्ट नहीं होता क्या ? और संयमी जनों के कहे बिना साथ वाले ही कैसे जान लेते हैं ?

इसके सिवाय जब तक ये संयमी उद्दिष्ट त्यागी क्षुल्लक एल्लक मुनि आर्यिका आदि उच्च पदों पर प्रतिष्ठित नहीं हुए थे, दशमी या नीचे की प्रतिमारूप से चढ़ते परिणामों से आत्महितसाधन के मार्ग में लगे थे, तब इन एक २ का ही मार्गव्यय आदि का भार श्रावकों को उठाना पड़ता था, परन्तु जब से ये उद्दिष्ट त्यागी अत्यल्पपरिग्राही (मात्र कौपीन और खण्ड वस्त्र या मात्र १ सोला हाथ की साड़ी) अथवा अपरिग्रही मुनी हो जाते हैं, तब से इनके साथ रहने वाले आदमियों का भोजनव्यय, मार्गव्यय, वेतनव्यय भी लोगों के सिर पड़ जाता है, क्योंकि इनके साथ विधि बताने वाला तो रहता ही है और भी एक आश्चर्य कि हिरण्य सुवर्ण आदि परिग्रह का त्याग नवमी प्रतिमा में ही जब हो जाता है, तब ग्यारहवीं प्रतिमा या

आर्यिका मुनि का तो कहना ही क्या है ? वे तो कृतकारित अनुमोदना से इनके त्यागी हैं ही, परन्तु आज कल इस नियम का पालन मात्र इतना होता है, कि शायद ये द्रव्य को हाथ से नहीं छूते पर हिसाब तो रख सकते हैं, साथ में रहने वाले लोग द्रव्य रखते हैं, जिस से रेल और मोटर आदि का भाड़ा चुकाया जाता है और आवश्यक वस्तुएँ लाई जाती हैं, आर्यिकाएँ, एल्लक, क्षुल्लक तो स्वतन्त्रता से रेल और मोटरों में भ्रमण करते ही हैं, किन्तु कोई २ मुनि भी रेलों व मोटरों में विहार करते हैं, अब विचारना यह है, कि ये परिग्रहत्यागी, जब कि सम्पूर्ण अपने द्रव्य का त्याग कर चुके तो फिर रेल व मोटरों के खर्च को द्रव्य कहाँ से आता है ? आखिर तो यह भार गृहस्थों पर ही पड़ता है, पहिले तो एक का भार था, जब ये कुछ परिग्रही थे और जब निष्परिग्रही हुए, तो दो २ तीन २ का भार आपड़ा।

जब कि दिगम्बर जैनाचार्यों ने इन महान् उत्कृष्ट संयमी जनों का मार्ग ऐसा पवित्र, सरल और व्ययरहित बताया था, कि इनके लिये किसी को न कभी पाई का खर्च होता था, न कोई आरम्भ होता था, न किसी के व्यवहार में बाधा ही आती थी, ये महान् तपस्वी परम ऋषि, योगी, पूज्य पुरुष जब कभी आहार निमित्त नगर में पधारते थे, तो श्रावकों के जो भोजन अपने व अपने कुटुम्बी जनों के अर्थ शुद्ध प्रासुक तैयार होता था, उसी में से कुछ भाग उनके द्वारा भक्ति-पूर्वक दिया हुआ आहार, याचना, दीनता या प्रशंसा रहित ले लेते थे और फिर वे वापिस नगर बाह्य बन, उपवनों में जाकर ध्यान करते थे, यह कैसा उत्तम और सरल मार्ग था।

परन्तु आज नगरों के महल इनके निवास हो गए, खर्चीले और उद्दिष्ट आहार हो गए, नौकरों, रेल, और मोटर आदि के खर्च बढ़ गए।

जिनके दर्शन मात्र से लोगों को शांति का अनुभव होने लगता था, आज उनके द्वारा जगह २ कलह का बीजारोपण होता जाता है, जैन, अजैन बनते जाते हैं, जिनके दर्शन से आनन्द आता था और निर्भय होकर प्राणी जहां रक्षा पाते थे, वहां आज उनको देख भय लगता है कि कहीं महाराज नाराज न हो जांय, चले न जांय, जिनके बचनों में अमृत था, आज उन्हीं का रूप धारण करके क्रोधादि कषाय युक्त बचन सुनते हैं।

मुनियों तक की पीछी में पेन्सल खुसी रहती है, चटाइयां, घास, साथ चलते हैं, इनके नाम सस्थाएँ चलती हैं, ये उनके लिये रुपया भिजवाते हैं, उनकी चिंता रखते हैं, कहाँ तक कहें! यह पवित्र मार्ग आज कितना दूषित हो रहा है? सो ये संसारी जन और विद्वत्समाज स्वयं विचार करे।

बहुत से अज्ञानी भोले प्राणी कह देते हैं, हम गृहस्थों से तो ये अच्छे हैं, इनके दोष देखने का क्या अधिकार है? हम तो भेष को पूजते हैं वे कुछ भी करें, उसका फल उनको होगा, हमारी तो धर्म भावना है इत्यादि।

यह उनका विश्वास मिथ्या है, स्वपद से विरुद्ध आचरण करने वाला संयमी, असंयमी जनों से भी बुरा है, क्यों कि असंयमी तो संयम मार्ग की इच्छा करता है, उसका मुख ठीक दिशा में है, अपने असंयम को स्वीकार करता है, परन्तु वह नामधारी संयमी तो अधोमुख हुआ विरुद्ध आचरण करता है और आपको सन्मार्गी मानता हुआ लोगों में ख्याति लाभ पूजादि चाहता है, इस लिए वह तो श्रद्धा से च्युत है, वह अच्छा हो नहीं सकता। रही गुण-दोष देखने की बात

सो जैन धर्म में परीक्षा प्रधानता को ही श्रेष्ठ बताया है, यदि दोषों का विचार नहीं किया जायगा तो जैसे सच्चे निर्ग्रन्थों के स्थान में हम चरित्र-हीन पुरुषों को गुरु मानने लगेंगे, वैसे ही वीतराग के बदले रागी, द्वेषी देवों को भी मानने लगेंगे। एक छोटा छिद्र कभी २ बड़े बाँधों (पालों) को भी फोड़ देता है, जैसे कि हुआ भी है, कि निर्ग्रन्थों का स्थान बहु आरम्भी और परिग्राही भट्टारकों ने ले लिया, और वीतराग देव के स्थान में भूतादि व्यंतर, दिक्पाल, क्षेत्रपाल आदि पुजवा दिए, धर्म के नाम पर योनि जैसे जघन्य स्थान को पुजवा दिया और न जाने क्या २ करवा दिया। अतएव गुण–दोषों का पूर्ण विचार किये बिना कभी भी गुरु नहीं मानना चाहिए, पूज्य श्री समन्तभद्रादि आचार्य तथा पं० बनारसी दासजी आदि कविवर्गों की वही परिपाटी चली आई है। रही भेष की बात सो अचानक दिगम्बर मुद्रा युक्त किसी अपरिचित साधू का दर्शन हो और उस समय कोई दोष प्रत्यक्ष न मालूम पड़ता हो तो नमस्कार कर सकता है, परन्तु परिचय में आजाने और उनके गुण दोषों की चर्चा हो चुकने पर भी जो हठ या लज्जा या भय या कुलाचार से सदोष मुनियों को मानता जायगा, वह आगम का विरोधी अश्रद्धानी होगा, मात्र बाह्य नग्नता पूज्य नहीं मानी जा सकती, जब तक अंतरङ्ग से मूर्छा न निकले, कम से कम बाहर में २८ मूल गुण हों और उस पद के अनुसार कषायों की मंदता हो, विषयों व विकथाओं से दूर हो, ४६ दोष ३२ अन्तराय रहित शुद्ध प्रासुक और अनुदिष्ट भोजन लेकर ध्यान स्वाध्याय में मग्न रहता हो, वही संयमी पूज्य हो सकता है, बाह्य नग्न तो बालक भी रहते हैं, पशु–पक्षी रहते हैं, मात्र लंगोटी लगाने वाले व एक चादर ओढ़ने वाले भीलादि मनुष्य भी होते हैं, जो नहाते भी नहीं, दांतन भी नहीं करते इत्यादि, परन्तु क्या वे पूज्य हो सकते हैं? कभी नहीं। रही यह बात वे कुछ भी करें, हमारे भावों का

इसको फल मिलेगा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि हीनाचारी को पूजना मानना अर्थात् हीनाचार को उत्तेजन देना है, इससे हीनाचार बढ़ेगा ही और शुद्धाचार का लोप हो जावेगा और जैनागम के अनुसार कारित और अनुमोदना होने से पूजकों को पाप ही होगा, पुण्य नहीं हो सकता।

इस लिए हमारा कर्तव्य है, कि सब से पहिले संयमी संस्था का सुधार करें, इसके सुधार का उपाय यह है, कि हम वर्तमान मुनिगणों, आर्यिकाओं तथा एल्लक क्षुल्लकों में जो पढ़े लिखे विरक्त चित्त विवेकी तथा शुद्धाचारी हों उनसे निवेदन करदेवें, कि वे अपने संघ में सुधार करें, जो अपढ़ होवें उनको पढ़ाने का यत्न करें, अपढ़ अविवेकी लोगों को दीक्षित न करें, जिनमें किंचित् भी हीनाचार पाया जाय उनको प्रायश्चित्त देवें, अनेक बार यत्न करने पर भी जो न अभ्यास करें, और न अपने आचरण सुधारें, उनको संघ बाहर करें, बहिष्कार करें, या दीक्षा छीन लेवें और समाज को सूचना कर देवें, कि अमुक मुनि बहिष्कृत किया गया है, या मुनि पद के अयोग्य सिद्ध होने पर मुनि दीक्षा छीन ली गई है, अतएव उसे कोई मुनि आदि न मानें और समाज को भी चाहिए, कि यदि ऐसी यथार्थ आज्ञा, मुनिसङ्घ से हुई हो तो उसका पालन करे और शीघ्रातिशीघ्र इस आज्ञा का प्रचार नगर २ ग्राम २ कर देवें, ताकि ऐसे हठी भेषी, धूर्त समाज में न पुजने पावें और धर्म का अपवाद होने से रुके।

यदि मुनि संस्था, इस पर ध्यान न देवे तो समाज के विद्वानों और नेताओं को यह काम हाथ में लेना चाहिये और अयोग्य मनुष्यों को ऐसी दीक्षा देने लेने से अटकाना चाहिए, यदि दीक्षा लेने देने वाले न मानें, तो समाज में इसकी घोषणा करके ऐसे दीक्षा लेने और देने वाले दोनों का बहिष्कार करना चाहिये, तथा वर्तमान में जो अयोग्य व्यक्ति हों, उनको भी यदि न सुधरें तो मुनि चिन्ह (पीछी कमंडलु आदि)

बलात् छीन कर गृहस्थों के वस्त्र दे देना चाहिए, जिससे साधारण जनता भेष मात्र से धोखे में न पड़े। इसके सिवाय समाज का यह भी कर्तव्य है, कि एक ओर जैसे वह अयोग्य व्यक्तियों को नवीन दीक्षित होने से अटकावें और प्रथम के हुए अयोग्य दीक्षितों को सुधारे तथा न सुधरने पर बहिष्कृत करे या सयमी का भेष छीन लेवे, वैसे ही दूसरी ओर सर्व साधारण जनता में संयमी जनों के सच्चे स्वरूप और उनकी यथार्थ सेवा वैयावृत्त आदि की विधि का ज्ञान करावें, तथा कम से कम प्रत्येक गृहस्थ के घर चौके (पाकशाला) में शुद्ध भोजन का प्रचार करें, यदि क्षेत्र काल के कारण सब जगह सभी गृहस्थों को, शुद्ध मर्यादा के अनुसार श्रावक के घर का घी, शुद्ध दूध, पवित्र स्वदेशी शक्कर (खांड) का बूरा, मेवा मिष्ठान्न व फल शाकादि प्राप्त न हो सकें, तो चिंता नहीं, वे गृहस्थ अपनी रुचि, शक्ति व क्षेत्र कालानुसार प्राप्त ऐसे पदार्थ स्वयं भले ही न त्याग सकें यह तो उनकी इच्छा, परन्तु संयमी जनों के लिए तो पूर्ण शुद्धता का निश्चय होवे तभी उपयोग में लेवे, अन्यथा इन वस्तुओं के बिना, इतनी वस्तुएँ (कुँए, नदी या बड़े तालाब, जहां का पानी पिया जाता है) ऐसा पानी दुहरे स्वच्छ और गाढ़े छन्नों में छानकर रसोई के काम में लेना, उसी में कुछ पानी गरम या प्रासुक कर रखना जीवानी विधि से उसी जलाशय में पहुँचा देना, वह प्रासुक जल मर्यादा के अन्दर उपयोग में ले लेना, घर की चक्की का आटा दिन के समय का पिसा हुआ (वह भले गेहूँ का हो या चना, ज्वार, बाजरा, मक्का आदि किसी भी बिना घुने अनाज का हो) उसकी रोटी, बाटी, दलिया, थूली, आदि बनावें, दाल चांवलों को शोधकर दाल भात या खिचड़ी बनावें, दाल में मसाला मर्याद के अन्दर का पिसा हुआ हो या पीस कर डालदें, न हो तो बिना मसाले के ही रक्खें, बस! भोजन शुद्ध होगया, चौके व

पनिहारे पर चन्दोवा रक्खें, चौके में पवन और प्रकाश बराबर आता हो, संयमी जनों को ७ के बाद ११ बजे से पहिले या दोपहर के बाद ३ से ५ बजे तक भोजन करा देना या द्वारा प्रेक्षण करना यह काल शुद्धि हुई, अपने भाव संयमी के सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र व तप की वृद्धि होने के हों, यह भाव शुद्धि है।

भोजन स्नान करके पवित्र अछूते कपड़े पहिर कर बनाया जाय और मुनि को नवधा भक्ति पूर्वक तथा अन्य संयमी जनों को उनके पद के अनुसार आदर पूर्वक देना चाहिए (मुनि के सिवाय और किसी संयमी एल्लक क्षुल्लक आर्यिकादि की नवधा भक्ति या पूजा प्रदक्षिणा अष्टांग नमस्कार नहीं होना) इस प्रकार से जब गृहस्थों के घर नित्य शुद्ध सादा भोजन बनने लगेगा तो उद्दिष्ट का दोष निकल जावेगा, खर्च भी कुछ न होगा और सादा भोजन एक बार मिलने से जिह्वा लोलुपी तो ऐसा संयम लेंगे नहीं, सच्चे विरागी ज्ञानी ही इस मार्ग में आगे बढ़ेंगे, सो इष्ट ही है। यहाँ मेरा यह आशय नहीं है, कि घर में पवित्र घी, दूध, बूरा आदि रहते हुए या पवित्र घृतादि से तैयार किया हुआ मोदकादि (मिष्टान्न) संयमी को नहीं देना, यदि गृहस्थ ने स्वयं अपने लिये ऐसा शुद्ध मिष्टान्न बनाया है, या ये पदार्थ उसको सहज प्राप्त हैं, तो संयमी जनों को देवें, यदि उनके उसका त्याग न होगा तो ले लेंगे, अन्यथा नहीं लेंगे।

नवीन दीक्षा के लिए खास नियम करना चाहिए, कि जब तक वह (दीक्षाभिलाषी) कम से कम रत्नकरंडश्रावकाचार सागारधर्मामृत, मूलाचार, भगवती आराधनासार, आत्मानुशासन, पं० दौलतराम कृत छः ढाला आदि तथा द्रव्यसंग्रह तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थ कम से कम न पढ़ा हो, तब तक उसे उत्तम श्रावक मुनि आर्यिकादि की दीक्षा

कदापि न दी जाय। ऐसे ही गृह त्यागी होने वाले मध्यम व जघन्य श्रावकों को भी जब तक वे श्रावकाचार, छःढाला, द्रव्य संग्रह, तत्त्वार्थ सूत्र आदि न पढ़े हों, त्यागी होने की आज्ञा न दी जाय। वे घर में रहकर या किसी विद्यालय या आश्रम में रह कर पहिले अभ्यास करें पश्चात् त्यागी बनें।

आजकल ऐसे २ त्यागी ब्रह्मचारी, एल्लक, क्षुल्लक और मुनि देखे जाते हैं कि जिनको अक्षर का भी ज्ञान नहीं है। प्रतिमाओं और मूल-गुणों के नाम तक नहीं जानते, फिर भी पूज्य पद पर प्रतिष्ठित होजाते हैं। ये दिन भर किस ध्यान में समय बिताते हैं सो ये जानें और सर्वज्ञ जानें। हमको तो इतना ही अनुभव होता है कि इनका समय संसारी गृहस्थों की चर्चा में जाता है और अधिक क्या कहूं? क्योंकि कहा है कि —

" काव्य शास्त्र के अर्थ में पंडित रहें खुशाल।
विकथा और प्रमाद में मूरख बितवें काल॥ "

इसके सिवाय यदि कदाचित् कोई मन्दकषायी संयमी कुछ एकांत में अलग बैठकर अभ्यास करता हो, तो दर्शन वाले भक्तजन नहीं करने देते, जय २ में भुला देते हैं। इसके सिवाय कोई तो श्रावकों को जनेऊ देने के व्यापार में लगे रहते हैं कोई दशा-बीसा का झगड़ा लिये हैं, कोई गांधी टोपी व खादी के विरोधी हो रहे हैं, कोई बड़साजन, लोहड़साजन के झगड़े में लगे हैं, कोई किसी संस्था के मोह में फँस रहे हैं, वहां चन्दा करा २ कर भिजवाते हैं, इत्यादि व्यापारों में मग्न रहते हैं, क्योंकि ज्ञानाभ्यास बिना तत्त्वचर्चा में तो रम नहीं सकते और दूसरा कार्य नहीं, तब दिन तो किसी प्रकार पूरा करना चाहिये।

मैंने स्वयं इन उत्तम संयमी जनों के समागम में कुछ समय रह कर देखा तो उल्टी मेरी सामयिक स्वाध्याय में बाधा पड़ने लगी। लोग सबेरे से रात तक घेरे रहते हैं। इसके सिवाय कोई भोजन की बातें करता है, कोई खाच २ कर चौके देखने के लिये २ फिरता है। लाचार हो मुझे यही विचार आया कि इससे यही अच्छा है कि किन्हीं विद्वानों के निकट, जो सद्ब्रह्मचारी अणुव्रती हों, रहना अच्छा है। वहां कम से कम भीड़ तो न होगी। शांति से सामायिक स्वाध्याय तो होगा। कुछ पूछना हुआ तो पूछ लिया, सीख लिया और दैवयोग से ऐसा संयोग न बने तो ग्रामों में रहकर श्रीमत्प्रातःस्मरणीय कुन्दकुन्दादि आचार्यों का ध्यान करना, उनके वचनों को पढ़ना, स्मरण करते रहना, इसी में हित है और ऐसा ही करने के प्रयत्न में रहता हूं।

उत्तम संयमी जनों के विषय में कुछ कह कर अब मध्यम व जघन्य संयमी जनों के सम्बन्ध में कुछ कह देना अनुचित न होगा।

यह तो ऊपर कह चुका हूँ कि जब द्रव्य के त्यागी मुनि, एल्लक, क्षुल्लक, आर्यिकादि ही रेल मोटरों में भ्रमण करते हैं तो उन से नीचे वाले श्रावक भ्रमण करें इसमें आश्चर्य ही क्या है? वे जब नगर, देश देखने या तीर्थ यात्रा करने की इच्छा को नहीं रोक सकते और वह भी दिनों के बदले मिनटों में, महिनों के बदले दिनों में करना चाहते हैं और अपना तथा अपने साथियों के खर्च का सारा भार गृहस्थों पर डालते हैं, तो ये नीचे वाले उनका अनुकरण करने से क्यों वंचित रहें? ये आठवीं प्रतिमा तक तो स्वयं द्रव्य रख सकते हैं, आगे अपने किसी सम्बन्धी या आज्ञाकारी नौकर रख लेते हैं और फिर गृहस्थों के साथे लम्बी २ मुसाफिरी (यात्रा) करते हैं। प्रत्येक स्थान से लम्बे टिकिट का दाम मांगते हैं, और पूरा या अधूरा

मिल जाने पर फिर पास वाले स्टेशन पर उतर जाते हैं फिर वहां से भी पूरा मांगते हैं, इस प्रकार व्यापार सा बन गया है। पैदल चलने के स्थानों में तो जाते नहीं, क्योंकि वहां सवारी की कठिनाई होती है, रास्ता खराब, जङ्गली, पहाड़ी, रेतीला, ऊँचा, नीचा इसके सिवाय रुपया नकद चन्दा वहां कम मिलता है। शुद्ध अनाज, घी, दूध के सिवाय फल, शाक, मेवा नहीं मिलता, इसलिये जाते नहीं और उपदेश करना आता नहीं, क्योंकि पढ़े नहीं, इससे लोगों पर प्रभाव पड़ता नहीं, शहर घूमने की लालसा घटती नहीं, तब और क्या करें? अधिकतर भोली स्त्री समाज में इनका कार्य बन-जाता है। अनेक ऐसे त्यागी हैं जिनको एक तीर्थ की यात्रा अनेकों बार हो चुकी है, फिर भी तीर्थ यात्रा का मोह बना ही रहता है। वहां रहने पर भी यही भावना रहती है, कि कोई भोजन की व्यवस्था कर देवे, यहां से जाने के खर्च का प्रबन्ध कर देवे, तो ठीक हो। धर्मध्यान के स्थान में उदार दातार यात्रियों का ध्यान विशेष रहता है। अन्य २ जगह अन्य २ दातारों का और वहां जो दे देवे उसका गुणगान करते है। त्यागी होकर भी सापेक्ष होने से श्रीमानों की सेवा सुश्रूषा में ही बहुत समय जाता है। लोगों में प्रभाव डालने को कभी २ शक्ति से बाहर उपवासादि करते हैं और गृहस्थों को दबाव डालकर द्रव्य तो लेते ही हैं, परन्तु कहीं २ बलात् अनुचित प्रतिज्ञायें भी दिला देते हैं, जिनको गृहस्थ पालन नहीं कर सकता, सो या तो प्रतिज्ञा तोड़ देता है, या आर्त रौद्र भावों से ज्यों त्यों निर्वाह करता है। शूद्रजल त्याग और ब्रह्मचर्य व्रत के विषय में तो खास बातें हैं। मैंने अनेकों गृहस्थों को शूद्रजल त्याग की प्रतिज्ञा भङ्ग करते देखा है, वे कहते हैं, क्या करें लेना पड़ता है, परन्तु हमारा चल नहीं सकता, ब्रह्मचर्य व्रत में भी यही बात है कि घर में तो तरुण स्त्री,

दूसरे या तीसरे लग्न की है और उसके पति को ब्रह्मचर्य दिला देते हैं, इससे स्त्री की कषाय न घटने से घर में निरन्तर कलह रहता है। घर नरकवास बन जाता है। ऐसे दृष्टांत हाल मौजूद हैं, कोई तो तोड़ बैठे और कोई कलह में पड़े हैं, कि कर्तव्य विमूढ़ हो रहे हैं, एक ओर कलह का दुख, दूसरे प्रतिज्ञा भङ्ग का डर, ऐसे द्वन्द्व में पड़े हैं। इसके सिवाय और उपदेश अधिकतर कन्द मूल त्याग, हरी का त्याग, कण्डा (छाणा) थापने का त्याग, कंडे जलाने और गोबर से लीपने का त्याग आदि अधिक कराते हैं, परन्तु स्वाध्याय करने, शास्त्र सुनने, कम से कम एक बार भी एकांत में बैठकर आत्म स्वरूप के विचार करने तथा अपने दोषों का विचार करके त्याग करने व सामायिक प्रतिक्रमण का स्वरूप समझाकर उसका नियम कराने का कष्ट नहीं लेते, या प्रथम ही मिथ्यात्व का स्वरूप बताकर, उसे छुड़ाने का यत्न या सप्तव्यसन व उनके सरदार जुआ, सट्टा का त्याग कराने (*जिससे देश पायमाल हो रहा है*) का यत्न व हिंसादि पापों का स्वरूप बताकर देशत्याग (स्थूलत्याग) आदि कराने का यत्न करते कम देखे जाते हैं। नहीं कहैं तो भी ठीक है। शूद्र जल त्याग के साथ नल के जल का अंग्रेजी दवाओं का, सट्टे वगैरह का त्याग नहीं कराया जाता। एकभुक्त व उपवास का नियम तो कराते हैं, परन्तु उस दिन ग्रहारम्भ छोड़ कर, धर्मध्यान में ही काल बिताने का नियम भी कराते हैं? रस त्याग कराते हैं, परन्तु उसके बदले बहुत आरम्भ न बढ़ाने का भी मार्ग बताते हैं? जैसे अमुक दिन घी न खाना, तब क्या खीर, पेड़ा, कलाकन्द बनाकर खाना? नमक के बदले मिष्टान्न, पकवान्न बनाना, मीठा (गुड़, खांड) के बदले दाख, छुहारे आदि ढूँढते फिरना, इससे सहज साध्य भोजन जो कम आरम्भ से होता था छूट कर कठिनाई से होने वाला, बहु-

आरम्भ जनक, बहुत खर्चीला अधिक स्वादिष्ट पुष्ट, गरिष्ट, जो नित्य से भी अधिक खाया जाय, बन गया और इन्द्रिय संयम तथा ऊनोदर का अभिप्राय कुछ भी नहीं सधा। कोई घी छोड़ते हैं, परन्तु बादाम या खोपरे का तेल निकलवाते फिरते हैं, यह क्या है? मार्ग तो यह है कि नित्य जो रस सहज प्राप्त हों उनमें से अमुक रस नहीं खाना, उसके बिना शेष से काम चला लेना, न कि बदले में अधिक मूल्यवान स्वादिष्ट रस ढूंढना। ऐसे ही कोई अनाज जो सब जगह सहज साध्य है, त्यागकर दूध मेवा, फल, शाकादि खाने का नियम करते हैं, जिससे गृहस्थों को बहुत त्रास होता है क्योंकि ये पदार्थ सब जगह नहीं मिलते और बहुत द्रव्य साध्य हैं, अज्ञानी लोग ऐसे त्याग को त्याग मान बैठते हैं। यह महंतता बढ़ाने का साधन है। माल तो मौज से उड़ाना और तप त्याग का महत्व कायम रखना। इसी प्रकार कतिपय त्यागी, ब्रह्मचारी गृहस्थों से कह २ कर अमुक २ पदार्थ बनवाते हैं, उनको सादा खुराक नहीं रुचता, ये लो। यहां तक बढ़ जाते हैं कि सादा भोजन कराने वाले की लोगों के सामने टीका करते हैं, जिसका असर यह होता है कि या तो गृहस्थ आगे को त्यागी जनों को भोजन कराने से डर जाते हैं, या इच्छा और शक्ति के विरुद्ध भोजन तो करा देते हैं, परन्तु पीठ पीछे नाना प्रकार की अलङ्कार युक्त टीका करते हैं।

बहुत से त्यागी संयमी अपनी भक्ति अपने पद से अधिक कराते हैं, जैसे क्षुल्लक ऐलिलक आर्यिकादि नवधा भक्ति कराकर ही आहार लेते हैं, कोई ब्रह्मचारी नमोस्तु कहलाकर अष्टांग नमस्कार कराते हैं। कहीं २ श्रावकगण त्यागियों को बहुत ऊँचा सन्मान करके चढ़ा देते हैं और कहीं २ बात भी नहीं पूछते। फल यह होता है कि "गेहूं के साथ घुन भी पिस जाता है" अर्थात् भेषी जनों के कारण,

सच्चे त्यागियों के लाभ से भी वञ्चित रह जाते हैं। कहीं २ एक २ त्यागी के भोजन के लिये इतना आरम्भ किया जाता है कि उसकी तैयारी में कई २ आदमी लगते हैं और बहुत समय लगाते हैं, अनेकों पदार्थ तैयार करते हैं और कहीं सादा दाल, भात, रोटी, खिचड़ी आदि का भी प्रबन्ध नहीं होता।

और भी एक बात जो आज चल पड़ी है, वह है मुनि आदि उत्कृष्ट संयमियों के केशलोंच की, अर्थात् कई दिवस पहिले से ये संयमी जन अपने केशलोंच करने की सूचना गृहस्थों को कर देते हैं। तिथि काल और स्थान भी निश्चित कर देते हैं, इसलिये स्थानीय पत्र ये समाचार सर्वत्र पहुंचा देते हैं और भक्त जनता उपस्थित हो जाती है। तब नियत स्थान और तिथि पर ये संयमी उच्चासन पर बैठकर, कोई २ स्वयं अपने हाथ से और कोई २ दूसरों की सहायता से, राख (भस्मी) लगाकर केशोत्पाटन करते हैं, जनता द्वादशानुप्रेक्षादि पाठ पढ़ते हैं। ऐसी रीति थोड़े समय से प्रारम्भ होगई है, अर्थात् सब से उत्कृष्ट श्रावक ब्रह्मचारी ऐलक पन्नालालजी ने ब्यावर, अजमेर, बम्बई आदि स्थानों में साधारण जनता के समक्ष केशलोंच करना प्रारम्भ किया और उस समय उत्तर प्रान्तों में यह कार्य जनता के सामने पहिले पहिल आया। अतएव हमने इस प्रथा का अनुमोदन किया और दानादि करके इनके नाम से औषधालय, पाठशालाएं आदि संस्थाएं भी खोलदीं।

बस! इनके बाद होने वाले, मुनि ऐलक, क्षुल्लक आर्यिकादि संयमी जनों ने इस प्रथा को अपना लिया, विद्वानों ने इस प्रथा को प्रभावनांग का रूप दे दिया और अब यह प्रथा जोरों से चल रही है। इसके विरुद्ध बोलने वाले बाबू पार्टी के धर्म भ्रष्ट, प्रभावनांग के बाधक मुनिजनों के निंदक आदि अनेक प्रकार के पदों से विभूषित (अपमानित

किये जाते हैं। जो हो, परन्तु आज तक किन्हीं संयमी जनों ने या विद्वानों ने पूज्य श्रीकुन्दकुन्दादि आचार्यों के वाक्य नहीं बताए, कि अमुक प्रामाणिक सर्व मान्य प्राचीन ऋषियों कृत ग्रन्थों में अमुक २ गाथाएं, श्लोक, केशलोंच करने की विधि ऐसी ही बताते हैं, कि पहिले से प्रगट करके अथवा सर्व साधारण जनता के समक्ष बैठ करके केशलोंच करना, जैसा आज कल हो रहा है, तथा इसे प्रभावना का लक्षण भी कोई ऋषि कहते हैं तथा आदिनाथपुराण (जिनसेनाचार्य कृत जो सर्व मान्य है) अथवा हरिवंश, पद्मपुराणादि में कोई दृष्टांत ऐसे आए हैं ऐसी कथाएं मिलती हैं कि अमुक तीर्थंकर के तीर्थ में अमुक २ मुनि आदि संयमी ऐसे ही सर्व साधारण जनता के समक्ष बैठकर केशलोंच करते थे और उससे प्रभावित होकर अनेकों भव्य प्राणी मुनि तथा श्रावक के व्रतों को धारण कर लेते थे, अनेक अजैन, जैनधर्मी बन जाते थे, एक समय मेरे परिडत गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज और कुछ दूसरे सद्गृहस्थों के सन्मुख एक मुनि महाराज ने कहा था कि तीर्थंकर भगवान जब दीक्षा लेते थे, तब पालकी से उतर कर वस्त्राभूषणों का त्याग कर देते थे और सिद्धों को नमस्कार करके स्वयं ही दीक्षित होजाते थे, उस समय उपस्थित देव देवियां व नर नारियों के समक्ष ५ मुष्टि केशलुंच करते थे, जिनको इन्द्र रत्न पेटी में रखकर क्षीर सागर में क्षेपण करता था, इसीलिये यह सब के सन्मुख हुआ कि नहीं ? इससे उन्होंने सिद्ध करना चाहा, कि पब्लिक में केशलोंच करना विधि पूर्वक ही है, तथा यह भी सिद्ध करना चाहा कि बिना गुरु के भी दीक्षा धारण हो सकती है, क्योंकि वे स्वयं बिना गुरु के मुनिदीक्षित अपने आप क्षुल्लकभेष (यह भी स्वयं लिया था) छोड़ कर हो गए थे।

परन्तु जब विद्वद्वर्य वर्णी जी ने कहा कि वे तीर्थंकर थे, स्वयंभू

थे, उनका कोई गुरु नहीं हो सकता, वे स्वयं जगद्‌गुरु होते हैं, इसलिये अपने से बड़े सिद्ध (शुद्धात्मा) को आदर्श गुरु मानकर स्वयं दीक्षित होते हैं, परन्तु आगम की आज्ञा अन्य प्राणियों के लिये ऐसी नहीं है, उनको तो उस समय के प्रतिष्ठित गुरु आचार्यों के पास जाकर ही दीक्षा लेना पड़ती है और आचार्य महाराज सुपात्र देखकर उसकी भले प्रकार परीक्षा करके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों का विचार करके उसके आत्महितसिद्धि के अर्थ दीक्षा देते थे, न कि शिष्यों की गणना बढ़ाने के लिये। तथा वह उनका तप—कल्याणक का समय था, इसलिये उस समय केशलोंच करना उचित ही था, परन्तु उस समय के पश्चात् अपनी छद्मस्थ अवस्था में उन्होंने अनेकों बार केशलोंच किया, किन्तु उसकी सूचना उन्होंने या इन्द्र ने अवधि से जान २ कर किसी को दी थी और इसी विधि से उनका केशलोंच होता रहा इसका भी प्रमाण कहां आपने देखा है? यदि देखा है तो कृपया बतलाइये, मैं भी उसे पढ़कर अपनी भूल सुधार लूं इत्यादि।

परन्तु उत्तर नदारद। बाद में बोले अच्छा इस समय तो जो कह दिया सो करूंगा, परन्तु भविष्य में ऐसा नहीं करूंगा, समय होने पर बिना जाहिर किये एकान्त में ही कर लिया करूंगा। यह प्रतिज्ञा वचन रूप ही रही, परन्तु पालन नहीं हुआ। कोई २ मुनियों के केशलोंच कराने, उत्पाटित केश झेलने, उन्हें किसी जलाशय में में क्षेपने, पीछी नयी देने, कमंडलु तथा इन नवीन शास्त्र भेंट करने की बोलियां भी बोली जाती हैं और उसमें इकट्ठा द्रव्य संघपति की आज्ञानुसार अमुक संस्था में दिया जाता है। सम्भव है यह भी विधि प्रभावना का बोधक स्वीकार करली गई हो।

यह जाहिर केशलोंच की प्रथा लगभग ३० वर्ष से चली है,

इसके पहिले कभी देखने सुनने में नहीं आई। यद्यपि दक्षिण केनेरा (कर्णाटक) प्रांत की ओर प्रायः मुनि होते आये हैं, परन्तु कभी समाचार विदित नहीं हुए कि अमुक मुनि ने अमुक दिन, अमुक नगर में लगभग इतने नर नारियों के समक्ष केशलोंच किया। इससे स्पष्ट होता है कि यह कार्य (केशलोंच) मुनि आदि संयमीजनों का उनके २८ गुणों में से एक मूलगुण है, जिसका उनको अन्यान्य मूल गुणों के समान पालन करना चाहिये और जैसे अन्य मूल गुण दिखाकर पालन नहीं किये जाते, इसी प्रकार इसके भी दिखाने की जरूरत नहीं है। समय आने पर किसी भी एकांत क्षेत्र में, वन उपवन आदि में बिना किसी की सहायता के स्वयं अपने हाथों से संयम-साधनार्थ कर लेना चाहिये, केशलोंच के हेतु मूलाचार आदि ग्रन्थों में इस प्रकार बताए हैं, अर्थात्—

केशलोंच करने से (१) जीवों की उत्पत्ति नहीं होने पाती, जिससे संयम की रक्षा होती है, यदि उस्तरादि से करें या करावें तो या तो उस्तरादि साथ रखना पड़ेंगे, जिससे परिग्रह बढ़ जायगा, या किसी से याचना व दीनता करना पड़ेगी, जो मुनि धर्म के विरुद्ध है। इसलिये [२] अयाचीक वृत्ति का पालन होता है [३] परिग्रह-परिहार व्रत में अपवाद नहीं आता है। [४] शरीर से रागादि भावों का निराकरण होता है [५] उत्कृष्ट तपश्चर्या का पालन होता है, इत्यादि।

अब विचारना यह है, कि पूर्व ऋषि मुनियों का मार्ग श्रेष्ठ माना जाय या वर्तमान पद्धति का ? एक बार लेखक ने मुनि अनन्तसागरजी [जो एकान्त में ही केशलोंच करते थे और किसी प्रकार का चन्दा किसी संस्था के लिए नहीं कराते थे, न कभी किसी को किसी से

कुछ खिलाते थे। प्रसंग से दान का उपदेशमात्र कभी कर देते थे, जिनका देहावसान इन्दौर में हुआ है] से पूछा कि आपने केशलोंच कर लिया, परन्तु श्रावकों को खबर भी नहीं मिली, तो उत्तर मिला कि यह तो हमारा मूल गुण है, जिसका पालन हमको आगम के अनुसार करना कर्त्तव्य है, इसमें कहने और दिखाने की क्या जरूरत, ऐसे हम कौन २ मूल गुण दिखा २ कर पालेंगे।

प्रश्न—एकांत में केशलोंच करने से यदि कोई ऐसी शङ्का करे, कि कुछ दवा का या शस्त्र का प्रयोग कर लिया होगा तो?

उत्तर—शङ्का तो और भी मूलगुणों में कर सकता है, तब ऐसी प्रतीति किस २ की कराते फिरेंगे। इसके सिवाय उसकी शङ्का से मुनि को तो कुछ भी हानि होती नहीं, मुनि को तो ख्याति, लाभ, पूजा, सत्कारादि की चाह होती नहीं, इसलिये वह चाहे जो कहे या मानले।

प्रश्न—और वर्तमान कालीन मुनि आदि संयमी तो सर्व साधारण जनता के समक्ष ही केशलोंच करते हैं, तो वे क्यों करते हैं?

उत्तर—इस विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता, उनका भाव वे ही बता सकते हैं।

प्रश्न—हमने सुना है, कि इस प्रकार जाहिर केशलोंच करने से जिन-धर्म की प्रभावना होती है?

उत्तर—प्रभावना तो मुनिराजों के आगमानुसार उत्तम तप संयम और उनकी आत्मा के विशुद्ध भावों से दिए गये तत्त्वोपदेशसे होती है, न कि केशलोंच दिखाने से। यदि केशलोंच दिखाने से ही प्रभावना होती, तो प्राचीन ऋषि-मुनि भी ऐसा ही करते और आगम ग्रन्थों में इस की विधि तथा दृष्टांत भी मिलते, परन्तु ऐसा नहीं है, इसके सिवाय उप-देशादि गौण होजाते परन्तु इस क्रिया के देखने से क्वचित् कदाचित् ही

कोई प्रभावित हुआ व होता होगा । इसलिये प्रभावनांगाभिलाषी उदार-चरित पुरुषों को चाहिये कि वे अपने तप और संयम की आगमानुसार शुद्धि करते हुए, निरंतर तत्त्वज्ञान बढाते रहें, जैसा पूज्यपादस्वामी ने कहा है—

"तद्ब्रूयात् तत्परान्पृच्छेत् तदिच्छेत तत्परो भवेत् ।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामय व्रजेत ॥"

अर्थात्–वही (तत्त्वचर्चा) कहे, वही पूछे, उसी की इच्छा करे, उसीमय होजावे, जिससे अविद्यामई रूप को छोड कर विद्या [ज्ञान] हो जावे, क्योंकि आत्महितैषी मुनिजनों को दो ही कार्य बताए गए हैं यथा—

ज्ञानाभ्यासः सदा कार्यो ध्याने चाध्ययने तथा ।
तपसो रक्षणं चैव यदीच्छेद्धितमात्मनः ॥

अर्थात्–यदि आत्महित करने की इच्छा है तो सदा ज्ञान ध्यान अध्ययन का अभ्यास करते रहो और तप की रक्षा करते रहो, जिससे आत्मासे मोह व राग द्वेष क्षीण होते जांय और विशुद्धि बढ़ती जाय इससे ज्यों २ आत्मा विशुद्ध और ज्ञानी होता जायगा, त्यों २ लोगों पर उसके उपदेशों का तो प्रभाव पड़ेगा ही, किन्तु उसकी मुद्रा भी प्रभाव डाल सकेगी, यह जिनेन्द्रदेव की वीतराग मुद्रा है, इससे अधिक प्रभावक और कोई मुद्रा संसार में नहीं है, यदि यह ज्ञान, ध्यान, वैराग्य, संयम तप संयुक्त हो तो, इसलिए इसको बाह्य कोई आडम्बर (चमत्कार) दिखाने की जरूरत नहीं है । वास्तव में वही धर्म प्रभावना कर सक्ता है जिसने स्वात्मा को ज्ञान, ध्यान, तप आदि से प्रभावक (निर्मल) बना लिया हो, बाह्य आडम्बर में कदाचित् कोई अज्ञानी मोहित हो सक्ता है, परन्तु वह धर्म तत्त्व के मर्म को पाकर प्रसन्न नहीं होता और तत्त्वज्ञान गर्भित

उपदेश से अच्छे २ विद्वान् प्रभावित होकर जैनधर्ममात्र स्वीकार ही नहीं करते, किन्तु जैन धर्म के सच्चे प्रचारक हो जाते हैं, देखो पात्र-केशरी ब्राह्मण ५०० शिष्यों सहित पूज्य श्री समंतभद्राचार्यकृत देवागम स्तोत्र का पाठ सुनकर स्याद्वाद में शङ्कित होगये और श्री पार्श्वनाथ के दर्शन करके ज्योंही स्याद्वाद का स्वरूप समझे, त्यों ही सब शिष्यों सहित दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण करली, इसका नाम प्रभावना है अकलंकाचार्य ने बौद्धाचार्यों से वाद कर २ के जैन धर्म की ध्वजा फहराई थी, इसी प्रकार अपने तपसंयम और ज्ञान के प्रभाव से पूर्व ऋषियों ने खूब ही धर्म प्रभावना की थी । इसलिये धर्मप्रभावना का साधन ज्ञान, ध्यान, तप संयम को समझो, केशलोंच धर्म प्रभावना का हेतु नहीं हैं, इत्यादि ।

महाराज के इस उपदेश से सबको बहुत आनन्द हुआ और सभी सन्देहरहित हुए । अब मात्र यहां प्रश्न यह रह जाता है कि वर्तमान पद्धति का जाहिरा केशलोंच यदि आगम अनुसार है तो आज्ञा दिखाना चाहिये, सर्वमान्य ऋषियों के वाक्य, सूत्र, गाथा, श्लोक, मय ग्रन्थ अध्याय और श्लोकसंख्या के प्रगट करना चाहिये । और दृष्टान्त भी पेश करना चाहिये, ताकि वादविवाद मिटकर एकमत होजाय । यदि यह आगम से प्रमाणित नहीं है, तो इस पद्धति को बदल कर पूर्व रूप में लाना चाहिए, क्योंकि यहां युक्ति का कार्य नहीं है, यह चरणानुयोग का विषय है इसमें आज्ञा ही प्रधान होती है, यदि इसे युक्ति से ऐसा सिद्ध करने की या देश काल का सहारा लेकर सुधार की बात की जायगी, तो फिर युक्ति तथा देश काल के आश्रित और भी सुधार होने लगेंगे और तब यह दिगम्बर मुद्रा ही लुप्त हो जायगी । इसका भी ध्यान रखना चाहिए ।

मेरी राय में उद्दिष्टत्याग संयम स्वीकार करने से पूर्व उसके इम्मेदवार मुमुक्षु जनों को ग्राम २ नगर २ फिर कर उपदेश करना चाहिये, जिससे गृहस्थजन श्रावकधर्म व क्रियाओं को समझने लगें, उनको शुद्ध प्रासुक भोजन-पान की विधि और मर्यादा सिखाना चाहिए, रसोईघर हवादार प्रकाशवान ठीक करवाना चाहिये, पाकशाला, भोजनशाला, पनिआरा आदि स्थानों में चंदेवा बंधवाना और सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त के पहिले २ भोजनपान सामग्री तैयार करने, कूटने, खांडने, पीसने, दलने, दूध निकालने, तपाने, दही जमाने, घी निकालने, तपाने, पानी गरम करने आदि क्रियाओं की शिक्षा देना चाहिए। स्नान करके शुद्ध धुले हुए वस्त्र पहिन कर भोजन बनाना और मर्याद के भीतर यदि अतिथि मिलें तो उनको जिमाकर अपने परिवार सहित जीम लेना, रात्रि में न खाना, कम से कम घरके चौके में शुद्ध ही बनाना तथा मुनि को नवधा भक्ति पूर्वक और शेष उद्दिष्ट त्यागी संयमी (भिक्षुओं) को, अथवा अन्य त्यागी श्रावकों को यथायोग्य वंदनादि सत्कार पूर्वक भोजन देना सिखाना चाहिये, इस प्रकार पहिले कम से कम सौ-पौन सौ ग्राम-नगरों में इस प्रकार क्षेत्र तैयार करना चाहिए, तब उद्दिष्ट त्याग व्रत लेना चाहिए और व्रत लिए बाद उसी क्षेत्र में जहां श्रावकों की ऐसी सुधरी हुई क्रिया होगई हो, विहार करते रहना चाहिए और ज्यों ज्यों परस्पर के संसर्ग से इस तरह चौकों की शुद्धि बढ़ती जाय त्यों त्यों विहार का क्षेत्र बढ़ाना चाहिए. सभी उद्दिष्टत्यागियों को ही नहीं, किन्तु परिग्रह त्याग (नवमी) प्रतिमा से ही संयमी जनों को सब प्रकार की सवारी का त्याग कर देना चाहिए और अपने पद व शक्ति के अनुसार पैदल ही विहार करना चाहिये, उनको लम्बी लम्बी यात्राओं को शीघ्र पार करने और बम्बई सूरत, दिल्ली आदि बड़े २ नगरों को

देखने का मोह बिलकुल न रहना चाहिये, मात्र यदि ये नगर उनकी पैदल यात्रा में आजांय तो बहुत शीघ्र उनमें से निकल जाना चाहिये और अपना बहुत समय ग्रामों में ही विहार व स्थिति करके बिताना चाहिये, क्योंकि वहां का जल-वायु स्वास्थ्यप्रद शुद्ध होता है, भोज्य पदार्थ शुद्ध होते हैं, क्योंकि वे वहीं पैदा होते हैं और वहां के नर नारी स्वयं अपने हाथ से पानी भरते, कूटते, पीसते, भोजन बनाते, बासन मांजते हैं, इसलिये वहां स्वभाव से शुद्ध प्रासुक अनुद्दिष्ट भोजन मिल सकता है, यदि कुछ अज्ञानजनित दोष कहीं हैं तो सहज उपदेश से दूर हो सकते हैं, क्योंकि वहां के निवासी सरल प्रकृति के होते हैं, इस लिए उन पर उपदेश का प्रभाव पड़ता है इस के सिवाय उनमें सादगी पाई जाती है, उनका रहन सहन सादा, पहिरना ओढ़ना सादा, बोलचाल सादा, खुराक सादा, जो देखो जहां देखो, सब सादा ही सादा, वहां बनावट सजावट व फैशन का भूत नहीं मिलता, क्योंकि बनावट तो नगरों (शहरों) में तथा कुछ कुछ शहरों के निकटवर्ती ग्रामों में मिलती है। वास्तव में वहीं ग्रामों में मोहक कारणों की कमी होने से संयमी जनों के योग्य उत्तमोत्तम क्षेत्र-ग्राम ही हैं। इन ग्रामों के पास पास प्रायः तीन २ चार २ कोस की दूरी पर होने से विहार में बाधा नहीं आती। स्वाधीनता से ये परिग्रही त्यागी संयमी जब चाहें विहार कर सकते हैं, कोई रुकावट नहीं, न राज्य की रुकावट और परिग्रह ढोने की चिंता, उठे और चल दिए, पहिले से जाहिर करने की जरूरत ही नहीं है, क्योंकि न मजूर बोझा ढोने को चाहिए, न पैसे का बन्दोबस्त कराना है न पाँव पुजवाना है, न स्वागत कराना है, क्योंकि न तो पास में परिग्रह है न रखना ही है, न मार्ग में लुटने का डर है, यदि साँझ होगई, विहार का समय न रहा तो जहां पहुंचे, वहीं झाड़ के नीचे, मैदान में, गुफा में शून्य खंडहरों में कहीं भी रात्रि बिताई,

फिर चल दिये। अहहा! कैसी स्वाधीनता!! कैसी प्रभावक वृत्ति!!! कैसा साम्यभाव! कैसा धैर्य!! कैसी सहनशीलता!!! धन्य हैं वे महात्मा जो अध्यात्मज्ञानपूर्वक ऐसी निस्पृहचर्या करते हैं, स्वपरप्रभावना का उत्तमोत्तम हेतु है ऐसे विहार में सभी छोटे बड़े ग्राम नगर आयेंगे, ध्यान के योग्य, वैराग्य के हेतु बन उपवन, पर्वत, जंगल वीथियां, सर सरिता आदि में होकर विहार होगा। वहाँ के निवासी और बटोहियों को इन महात्माओं का उपदेश मिलेगा, जैसा पूर्व काल में होता था और वर्तमान में श्वेताम्बर स्थानक वासी साधुओं तथा कतिपय वैष्णव साधुओं द्वारा अभी भी होता है। वास्तव में यही साधुमार्ग है जो आज भी खुला है और खुला रहेगा। जो निष्परिग्रह हैं उनके लिये यह मार्ग कभी बन्द हो ही नहीं सकता। चोरों का डर परिग्रही को होता है, परिग्रही पराधीन होता है, उसे साथ चौकी पहरा, सवारी नौकर मजूर सब चाहियें, मार्ग सुरक्षित चाहिए, परन्तु परिग्रहरहित महात्माओं को क्या? जहाँ से चल दिए, वही मार्ग, जहाँ पहुँच गए वही मुकाम, जब पहुंचे वही मुहूर्त, जो शुद्ध पदार्थ सहज प्राप्त होगया वही भोजन उनको महल स्मशान, कांच-कंचन, शत्रु मित्र, पुजारी अविनयी, सुख दुःख, सब समान हैं, उनकी इस शान्तता का प्रभाव क्रूर बन-पशुओं पर भी पड़ जाता है, वे उन्हें बाधा नहीं पहुँचाते और यदि तीव्र कर्म के उदय से नर, पशु, देव व अचेतनकृत उपसर्ग आ भी जावे, या परीषह उपस्थित हो जावें तो एक वीर योद्धा की भांति सामना (सहन) करना है, उन पर विजय प्राप्त करना है, क्यों कि उसके भेदविज्ञान (सम्यग्दर्शन) के प्रभाव से यह दृढ़ निश्चय है, कि यह सब जो हो रहा है, वह जड़ (पुद्गल) पर हो रहा है मैं तो इसका देखने जानने वाला हूँ, यदि यह शरीर जायगा, तो दूसरा नया इससे भी अच्छा मिलेगा, इसलिये इसकी चिंता क्या? जब तक शरीर है

तब तक यह उपाधि है, इसलिये अपने आत्मबल से ऐसा उपाय करूँ, जिससे शरीर फिर न धारण करना पड़े और शरीर का कारण कर्म भी नष्ट हो जाय, इत्यादि भावना भाता है, संसार शरीर भोगों को अनित्य जान कर आत्म स्वरूप में लीन होता है इस प्रकार विचार करता हुआ सहन कर लेता है और उपसर्ग करने वाले सुर नर पशु आदि पर भी प्रभाव डाल कर उनको अपना भक्त अर्थात् धर्मात्मा बना लेता है वे भी इस प्रकार कल्याण के मार्ग मे लग जाते हैं, परन्तु यह बात तत्त्वज्ञानी, सच्चे वैरागियों व तपस्वियों मे ही होती है, इसके सिवाय सङ्घ में नवदीक्षित आदि जन भी होते हैं, तो सङ्घ के अन्य साधुजनों के समागम से व उनके प्रभावक उपदेश और चरित्र के बल से निर्बलों में भी बल व धैर्य आ जाता है और इस प्रकार साधु संस्था चलती है।

ऐसे परिग्रह रहित महात्माओं को अपने साथ परिग्रही गृहस्थों को ग्रहण न करना चाहिए, क्योंकि उनको साथ रखने में पराधीनता बहुत आजाती है, उनके अनुसार चलना, मुकाम करना इत्यादि। यदि ये लोग साथ हो भी लेवें, तो इनकी इच्छानुसार न चलना, अन्यत्र चले जाना, क्योंकि इनके द्वारा होने वाले आरम्भ का दोष जिनके निमित्त ये साथ जाते हैं, उनको लगता है तथा उनके द्वारा किए हुए मार्ग के नैमित्तिक आहार नहीं लेना चाहिए। जब संयमी ऐसा करेंगे, तो गृहस्थ उनका साथ नहीं करेंगे। मार्ग में कुछ दूर तक श्रावकों के रहने के ग्राम न मिलें तो १-२-३ दिन आहार न करें या ऐसे क्षेत्रों में विहार ही न करें, कि जिस में ऐसी लम्बी यात्रा तय करना पड़े और श्रावकों को चौके ले लेकर साथ चलना पड़े, मार्ग में जङ्गल में मात्र वही आहार ग्रहण किया जा सकता है, जो अचानक शुद्ध मिल जाय, कोई गृहस्थ कहीं आते जाते हों और उन्होंने किसी मुकाम पर

अपने लिए शुद्ध भोजन तैयार किया हो, वहां अचानक मुनिजन विहार करते निकलें और योग्य विधि मिल जावे तो ले सकते हैं, परन्तु जो खास इसी उद्देश से साथ हो लिए हों, उन के द्वारा तैयार किया गया भोजन तो उद्दिष्ट ही होता है, ये लेने हैं तो वे साथ आते हैं। यदि कहो आज कल इतना बल वीर्य कहाँ है जो कई दिन आहार बिना चल सकें और तीर्थयात्रा करना हो या अमुक समय अमुक मुकाम पर धर्म के उत्सव में सम्मिलित होना हो तो ऐसा करना पड़ता है। तो उत्तर यह है कि—

ऐसे त्यागी जनों को ऐसे उत्सवों में अमुक समय पहुंचना ही चाहिए और उनको किसी प्रकार तीर्थ यात्रा करना ही चाहिए, यह आवश्यक नहीं है, ये बातें गृहस्थों को आवश्यक हैं, मुख्य भी हैं, परन्तु ऐसे महात्माओं को तो यदि विहार करते हुए सहजरीत्या उन उत्सवादि में पहुंचने का अवसर मिल गया, तो जहां तक उनके ध्यान, अध्ययन व संयम में विघात न पहुँचे तो क्वचित् कदाचित् अल्प समय मात्र पहुंच जाते हैं, अन्यथा बहुजन समुदाय में ध्यानादि में बाधा समझ कर नहीं जाते, इन बातों का अनुभव उन संयमी जनों को तथा उन विवेकी सद्गृहस्थों को है ही, कि जिन्होंने सम्मेदशिखर जी की वह यात्रा की है, जब कि सङ्घपति सेठ घासीलालजी पूनमचन्द्रजी ने सङ्घ निकाला व उत्सव कराया था और भी अनेक मेलों ठेलों में भी यही व्यवस्था होती है और संयमी जनों को आदमियों के घेरे के बीच चलना पड़ता है, सब ओर कोलाहल होता है, शान्ति का नामोनिशान भी नहीं पाया जाता, ऐसे समुदाय में भला वैरागी, निष्परिग्रह त्यागी महात्मा किस हेतु जावेंगे? उनको पहिले अपना हित करना है, पश्चात् आनुषंगिक हित भले ही किसी का हो जावे, कहा है —

"उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा।
अधमा कामचिन्ता स्यात् परचिन्ताऽधमाधमा॥"

अर्थात्—उत्तम चिन्ता अपने आत्मा के सुधार की अर्थात् स्वात्मा से मोह राग द्वेष भावों को हटाना और बाह्य निर्दोष संयम तप पालना, मध्यम चिन्ता संसारी प्राणियों के सुधार की है, क्योंकि उस में मोह है। अधम चिन्ता स्वविषय पोषण करने की और नीचातिनीच पर के बिगाड़ने की है। इसलिए ये संयमी महात्मा पहिले स्वात्म-सुधार की चिन्ता करते हैं, उसी के यत्न में रहते हैं और क्रम से ग्रामों-ग्राम विहार होनेसे लोक हित भी उनके उपदेश द्वारा होता रहताहै तथा बड़े बड़े मेलों में तो बहुत ही थोड़े लोग उपदेश का लाभ ले सकते हैं, क्योंकि उन बिचारों को तो परस्पर मिलने जुलने परिग्रह सम्हालने भोजन बनाने खाने खिलाने, दर्शन पूजन और अनेक उपस्थित दृश्यों के देखने से अवकाश ही कहां, बहुत हुआ तो भाग्य से किसी संयमी के दूर से दर्शन कर लेते नमस्कार कर लेते हैं, इत्यादि।

रही तीर्थयात्रा की बात सो उसकी मुद्दत नहीं, तीर्थ तो जहाँ के वहाँ कायम हैं जब भी पहुँचेंगे, वन्दना कर लेंगे, (२) यदि कदाचित पहुँचने के पहिले ही कहीं आयु पूर्ण होगई, तो भी चिन्ता नहीं, तीर्थ की भावना थी, यत्न भी चालू था, इसलिए उससे होने वाला फल तो हो ही जायगा, (३) ऐसे पूज्य विरक्त महात्माओं का तीर्थ तो उनके ही पास है, वे उसे छोड़ कर तप संयमादि का घात करके ऐसे उतावले इन बाह्य तीर्थों के लिए नहीं होते, ऐसी तीव्र अकांक्षाएँ तो गृहस्थों को ही हुआ करती हैं और इसलिए उनके वैसे साधन भी हैं, जो अमुक मुद्दत में ही स्वेच्छा पूर्ण कर सकते हैं तथा उनके ऐसे उच्च व्रत भी नहीं होता। अतएव उनको ऐसा करना ठीक

ही है, त्यागियों को नहीं और यदि ऐसी ऐसी आकांक्षाएँ नहीं छूटीं, तो पहिले गृहस्थी में रह कर परिग्रह रखते हुए स्वावलम्बनपूर्वक उन्हें ये आकांक्षाएँ मिटा लेना चाहिए, पश्चात् परिग्रहत्यागी बनना चाहिए।

तात्पर्य—ऐसे त्यागियों को मात्र भोजन पान और स्वपद के योग्य आवश्यक वस्त्र (मोटे खद्दर के हों) तथा पीछी कमण्डलु शास्त्र यदि आवश्यक हों, तो बिना याचना के भक्ति व आदर पूर्वक गृहस्थों द्वारा दिए जाने पर ग्रहण करना और जीर्ण उपकरण, स्वाध्याय किये हुए (पठित) शास्त्र व जीर्ण वस्त्र वहीं छोड़ देना चाहिए। इसके सिवाय उनके निमित्त गृहस्थों को कोई व्यय न करना पड़े न चिन्ता में पड़ना पड़े, इस प्रकार अपना चर्या करना चाहिए। ऐसे त्यागी जनों को पहिले ही आकांक्षाएँ मिटा लेना चाहिए और घर में साधन रहते हुए त्याग वृत्ति का, संयम तप का, तत्त्व ज्ञान का अभ्यास करते रहना चाहिए, जिससे शक्ति बढ़ जावे और त्याग मार्ग में पहुंच कर फिर पीछे लौटने की ओर न देखना पड़े उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ते जांय। उपवास, एकाशन रसपरित्याग, व्रतपरिसंख्यान, कायक्लेश, ऊनोदर आदि के अभ्यासी त्यागी ही आगे बढ़ सकते हैं कारण यह—

त्यागवृत्ति किसी सांसारिक इच्छा से होती ही नहीं वह तो इच्छाओं के निरोध से ही होती है और त्याग हो जाने पर भोजनादि पराधीन हो जाते हैं, कह कर कराने का इन त्यागी जनों को अधिकार नहीं और गृहस्थ अपनी रुचि व बुद्धि अनुसार भोजन पान शुद्ध बना कर कराता है, सो कभी अनुकूल पड़ता है, कभी प्रतिकूल पड़ता है कभी मिलता है, कभी नहीं मिलता, कभी प्रारम्भ में ही अन्तराय हो जाने से ऊनोदर हो जाता है, कभी कई दिनों तक या तो योग्य विधि नहीं बनती या लगातार अन्तराय आता रहता है—ऐसी

पराधीन दशा में कितना धैर्य कितनी शान्ति, कितनी समता, कितनी क्षमा, कितना वैराग्य, कितना विवेक, कितना बल, चाहिए? सो त्याग करने से पहिले ही स्वद्रव्य (शारीरिक शक्ति) स्वक्षेत्र (विहार का क्षेत्र) स्वकाल (अपनी शेष आयु का उतार चढ़ाव) और स्वभाव (अपने समता क्षमता धैर्यादिगुण) का विचार करके ही त्याग करना, अन्यथा भावना भाते हुए अभ्यास करते रहना चाहिये क्योंकि कर्म बन्ध या संवर निर्जरा, मात्र बाह्यत्याग से ही नहीं हो जाती किन्तु बाह्य के साथ अन्तरंग की शुद्धि ही से होती है।

इसमें कोई २ सज्जन यों कहेंगे, कि ऐसा विचारता रहे, तब तो कोई त्यागी संयमी हो ही न सकेगा, और न होने से मार्ग विच्छेद हो जायगा, तो उत्तर यह है कि (१) संयम मार्ग विच्छेद होने या न होने की गर्ज से नहीं धारण किया जाता, वह तो मुमुक्षु प्राणी अपने आत्मा के हित के लिए ही करता है, न कि मार्ग विच्छेद के भय से और यदि कोई अज्ञानी (अविवेकी) जीव केवल मार्गप्रभावनार्थ ही ऐसा करता है, तो वह भारी भूल करता है, क्योंकि आत्मशुद्धि के बिना मार्गप्रभावना व संयमीपरम्परा नहीं चल सकती? और २ ऐसे दिखाऊ या दूषित संयम की चर्चा छिड़ जाती है, संयमी जनों पर से आस्था उठ जाने से उनके प्रति निरादर का भाव पैदा हो जाता है, झूठे भेषी के बदले सच्चों की ओर भी उपेक्षा हो जाती है संयम की ओर से भी लोगों का चित्त विचलित हो जाता है, और तब मार्ग बन्द हो जाता है, इसका प्रत्यक्ष दृष्टांत भट्टारकों की गद्दियों का है, कि जब इन भट्टारकों को गृहस्थों के समान अपने वंश परम्परा चलाने का मोह बढ़ गया, तो इन्होंने गृहस्थों के बच्चे (उनके मां बाप को कुछ द्रव्य देकर) खरीदना प्रारम्भ कर दिये और उनको बड़े लाड़ प्यार से

गृहस्थों से भी अधिक सुन्दर २ बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहिराने, बढ़िया २ पुष्ट माल खिलाने, और बिना पढ़ाए ही पंडित पद से भूषित करने लगे, उनको यदि अपने गणगच्छ के लोगों या दि० जैन भाइयों से अधिकाधिक कर वसूल करना व भेंट लेना, तथा कुछ शुद्धाशुद्ध मंत्र पाठादि बोलकर कर पूजा पाठ करा देना आगया, तो पीढ़ी चलाने की खातरी होगई, बस! उनको अपना पद सौंप कर आप परलोकवासी बन गए। इस प्रकार बिना ज्ञान वैराग्य और चारित्र के ही यह परम्परा कुछ काल चली इसके चलाने को इन्होंने किले भी बांधे, फौज भी रक्खी, अर्थात् लोगों को अज्ञानी रखना शुरू कर दिया, उन का शास्त्र पढ़ने का अधिकार छीन लिया, शास्त्र भी छीन लिए, हर एक कार्य में इन का कर लगने लगा, शास्त्र ये सुनाने लगे, पूजा भी ये ही कराने लगे, इनके मुखारविन्द से निकले शब्द ही शास्त्र होगए, लोगों को कह दिया, शास्त्रों का तुम क्या करोगे? कोई लूट ले जायगा, जला देगा, लाओ सुरक्षित रक्खेंगे, और सुनना हो हमारे मुकाम पर आना या हमको बुलाना, इत्यादि, परन्तु समय बदला, ज्ञान का पुनः विकास हुआ, शास्त्र छपने लगे, उपदेशक प्रचार करने लगे, फल यह हुआ, कि इन अहम्मन्य स्वार्थी गुरुओं (भट्टारक) का असली रूप दीख गया, लोगों में मान्यता कम होने लगी, और धीरे २ इनकी गादियां उठा दी गई, अब कोई कहीं है भी तो दिन पूरे कर रहा है, वर्तमान गादीपतियों के बाद नाम भी न रहेगा। इसी प्रकार मुनि संयमी त्यागी श्रावकों की परम्परा अयोग्य और अशक्त व्यक्तियों से नहीं चल सकती, इस लिए योग्य शक्तिशाली, ज्ञानी, विवेकी, विरागी पुरुषोत्तमों को ही इस मार्ग में आना चाहिए, और शिष्यपरम्परा का मोह न करके योग्य पुरुषों को ही स्वीकार करना चाहिए जिससे निरपवाद मार्ग चले।

यहां तक परिग्रहत्यागी महात्माओं को लक्ष्य करके ही कुछ

लिखा है अब परिग्रह (धनादि) रखने वाले त्यागी व्रती श्रावकों के सम्बन्ध में भी कुछ लिखना उचित समझता हूँ।

जो शक्तिहीन किन्तु मुमुक्षु प्राणी उपसर्ग व क्षुधादिपरीषह सहने को असमर्थ हैं, पैदल यात्रा भी नहीं कर सकते और यात्रादि का मोह भी लगा है, तथापि संयम मार्ग में बढ़कर अभ्यास करना चाहते हैं, उनके लिए दो ही मार्ग हैं कि या तो वे घर में रह कर शुद्ध भोजन पान करें, त्रिकाल सामायिक करें, प्रोषधादि करें, पंचपापों का परिहार करके अणु व्रतों का निरतिचार पालन करें, सचित्त वस्तु खाने पीने का त्याग करें दिवामैथुन तथा रात्रिभोजन का कृत कारित और अनुमोदना से नवकोटि शुद्ध करके त्याग करें, ब्रह्मचर्य व्रत अखंड पालें, व्यापार धंधे को छोड़ें। तात्पर्य-प्रथम से अष्टम प्रतिमा तक का व्रत घर में रह कर अपनी शक्ति अनुसार क्रम से पालन करें और अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार तीर्थयात्रादि करें, परन्तु उधार लेकर या किसी से मांग कर यात्रा करना उचित नहीं है, पास में द्रव्य हो, तो सवारी में; न हो तो पैदल करें, यदि कोई याचना किए बिना इशारे के स्वयं उस व्रती की स्थिति को जान कर कुछ सहायता कर देवे, तो आवश्यकतानुसार स्वीकार कर लेवें, इसी प्रकार यदि कोई भोजन करावे तो निस्संकोच होकर कर लेवें, परन्तु इच्छाविरुद्ध रूखा सूखा सरस नीरस कैसा भी हो, परन्तु शुद्ध हो, तो उसकी टीका न करे, न अन्य प्रकार से उसे जनावे कि "व्रती जनों को सरस भोजन देना चाहिये, रूखा सूखा नहीं" क्योंकि गृहस्थ जान कर किसी व्रती संयमी को रूखासूखा (चाहे वह स्वयं या उसके प्यारे पुत्रादि कुटुम्बी ऐसा ही द्रव्याभाव आदि कारणों से खाते हों, तो भी) नहीं देना चाहता परन्तु जब शुद्ध पदार्थ उसको प्राप्त नहीं होता, तो वह उसके अभाव

में भी भक्ति से प्रेरित हुआ ऐसा करता है, उसका निरादर व अपकीर्ति करना, या अपनी अरुचि प्रगट करना घोर पाप व अन्याय है, उसकी प्रेमभक्ति की सराहना करते हुए, इस अपूर्व साहस का आदर करना चाहिए, उसे इस निर्भीकता में दृढ़ करना चाहिये, इस प्रकार घर रह कर अभ्यास करते हुए आगे बढ़ना चाहिये।

परन्तु यदि अनेक कारणों से घर में रह कर वह इतना भी धर्म-साधन व व्रत का अभ्यास नहीं कर सकता तो उसको कम से कम इतना द्रव्य कि जिससे उसके जीवनपर्यन्त कोई नवीन कमाई किये बिना सादा भोजन और वस्त्र का काम चलता रहेगा, किसी योग्य साहूकारी पेढ़ी में बिना व्याज जमा करा दे और क्रमशः अपने खर्च को लेता रहे, मृत्यु के पश्चात् किसी विद्यासंस्थादि में शेष द्रव्य को लगा देने का विल कर देवे, स्मरण रहे कि यह द्रव्य परिग्रहप्रमाण-व्रत (२ री प्रतिमा) के प्रमाण से अधिक न हो, कम हो सकता है, तथा इसमें से खर्चते हुए कम हो जाने पर किसी के द्वारा दिए जाने पर भी न लेवे, अमानत द्रव्य के प्रमाण को पूरा करने की चेष्टा न करे, नहीं तो यह व्यापार हो जायगा, कदाचित् दैवयोग से यह द्रव्य मित-व्यय करते हुए भी निःशेष हो जावे, या मारा जावे, लुट जावे, तो परिग्रहत्याग (नवमी) प्रतिमा धारण करे, यह व्यवस्था आठमी प्रतिमा के लिये है, यदि इतनी शक्ति व मन्द कषाय न हो, तो आठमीं प्रतिमा न धारण करे, सातवीं रक्खे, और अपने सादे भोजन व यात्रादि के लिए अल्प निरवद्य व्यापार, जिसमें अणुव्रतों में दोष भी न लगे, अपने परिग्रहप्रमाण के अनुसार कुछ कर लिया करे, परन्तु सामायिकादि नीचे की प्रतिमाओं को बराबर पालता रहे। इसी प्रकार नीचे की प्रतिमाओं में भी समझना चाहिये, श्रावक गृहस्थों के भरोसे

अभी गृहत्यागी न बनना चाहिए, किन्तु स्वावलंबन पूर्वक ही गृहत्यागी व्रती बनना चाहिए, ऐसे सच्चे निर्लोभी निस्पेह त्यागी ब्रह्मचारियों को कोई उदार सद्गृहस्थ, ऐसा समझ कर कि द्रव्य की चिन्ता से इनके धर्म ध्यान में वृद्धि नहीं हो सकती न तीर्थ यात्रा भी हो सकी है, इसलिए वह भोजन वस्त्र व मार्ग व्यय की उचित सहायता कर देवे, परन्तु न तो स्वयं दीनता व यांचना करना पड़े, न किसी से इशारा कराना पड़े, तब ही स्वीकार कर लेना चाहिए और फिर निश्चिन्त होकर धर्म साधन करना चाहिए, ताकि दातार को पात्र में चरित्रादि गुणों की वृद्धि देख कर व अपने द्रव्य का सदुपयोग हुआ जानकर हर्ष हो, और धर्मात्माओं की सहायता के भाव बढ़ें तथा अपना धर्म साधन निराकुलित होने से आगे बढ़ने और आत्मा हित करने में दृढ़ता हो, अपना कल्याण हो, कल्याण मार्ग की वृद्धि हो। तात्पर्य त्यागी संयमीजनों का यह गृहस्थ श्रावकों से बड़ा है, सो यदि त्यागी संयमी पुरुष गृहस्थों के पास याँचना करने लगें, तो उन में दीनता आ जावेगी, इच्छित वस्तु मिल जाने पर दातार की प्रशंसा और न मिलने पर स्वयमेव निंदा का भाव उत्पन्न हो जावेगा, सदैव प्रत्येक पदार्थ के लिए पराधीनता का अनुभव करना पड़ेगा, धर्म ध्यान के स्थान में आर्त रौद्र ध्यान होने लगेंगे, इसलिए त्यागी व्रती होने वाले व्यक्तियों को अपनी इच्छाएं बिल्कुल ही घटा लेना चाहिए और अपने आत्म बल पर ही त्याग वृत्ति स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि मांगना बहुत ही नीच कृत्य है। कहा है—"कर पर कर निश दिन करो कर तल कर न करेय। जा दिन कर तल कर करो ता दिन मरण गिनेय।" अर्थात् कभी भी माँगना नहीं चाहिए।

मौन से भोजन करना चाहिए, यह शास्त्राज्ञा है, इसलिए सभी मुनि त्यागी व्रती श्रावक मौन से ही जीमते हैं, अर्थात् जीमते समय

मुख से स्पष्ट वाणी नहीं बोलते, परन्तु हूं ! हूं !! हां ! हां !! आदि अस्पष्ट अनक्षरी वाणी तो बोलते हैं, जिससे उनके अन्तरङ्ग कषाय का भाव प्रगट होता है। नेत्र भी लाल २ दिखाते हैं, जिससे परोसने वाला घबड़ा जाता है। हाथ के इशारे से, आंख के इशारे से, खांस खुकार से, हुंकार से, आवश्यक वस्तुएं मांगते हैं। यदि परोसने वाला न समझा तो क्रोध करते है और भोजन के पश्चात तो क्रोध का बादल ही फट पड़ता है। क्या इस प्रकार के मौन को मौन कह सकते हैं ? क्या ऋषियों ने इसको इसी प्रकार से करना बताया है ? कभी नहीं। यह ऋषि वचनों (मौन) का दुरुपयोग करना है। इसलिये प्रथम मौन का अभिप्राय समझना चाहिये, पश्चात हो सके तो मौन से जीमने का नियम करना चाहिये, सुनिए ! मौन से जीमने का अभिप्राय जिह्वा इन्द्री के विषय को समता से जीतना है अर्थात् भोजन प्रारम्भ कर देने पर यदि भोजन में अमुक वस्तु की—जैसे नमक, मिर्च आदि मसाला, बूरा, घी आदि रस, दाल, भात, रोटी, पूरी, लड्डू, कचौरी आदि खाद्य पदार्थों में से अमुक २ की आवश्यकता है, परोसने वाला भूल गया या भोजन में अमुक रस मसाला पड़ा है, नहीं पड़ा है या कम ज्यादा पड़ा है, तो भी शांति पूर्वक थाली में डाले हुए पदार्थ या हाथ पर आये हुए ग्रास को, यदि वह शुद्ध ग्रास है, तो स्वाद का विचार न करके जीम लेना चाहिये और फिर मन में कल्पना भी न रखना चाहिए न बाद भोजन के किसी से कहना ही चाहिये, कि आज भोजन में अमुक वस्तु नहीं थी मुझे रोटी लेनी थी, परन्तु भात परोस दिया। परोसने वाला अज्ञानी है, कुछ समझता ही नहीं है, इत्यादि, यही मौन का अभिप्राय है, इसलिये यदि इतनी समता और जिह्वा इन्द्रिय पर वश न हो, तो मौन से जीमना स्व-पर दोनों के लिये हानिकारक है।

इसी प्रकार मौन के समान अन्तराय पालने व व्रतपरिसंख्यान तप का भी दुरुपयोग किया जाता है। श्रावकों व मुनियों को अपनी २ योग्यतानुसार अन्तराय टाल कर भोजन कर लेना चाहिये, अर्थात भोजन करते हुए कोई अन्तराय का निमित्त बन जाय—जैसे हिंसक शब्द सुनना, मद्य, मांस, मलादि देखना या भोजन में कोई मृतक त्रस कलेवर या नख केशादि का मिल जाना या किन्हीं जीवों का अचानक गिर कर मर जाना या त्यागे हुए पदार्थ का भूल से मुख में पहुँच जाना इत्यादि देखने, सुनने व स्पर्श करने के और २ भी कारण अन्तराय होने के बन जांय तो बिना संक्लेशता के मुख शुद्ध करके भोजन त्याग देना चाहिये, परन्तु बहुत से व्रती इसमें भी पीछे बहुत कषाय भाव प्रगट करते हैं, जो सर्वथा अनुचित है। कोई २ तो थाली वगैरह बजाकर जीमते हैं, ताकि कुछ सुन न पड़े और अन्तराय न आवे। यह प्रथा भट्टारकों की चलाई हुई है। वे ऐसा ही करते थे और उनसे गृहस्थों ने भी सीखली है। इसलिये ऐसी कुयुक्तियों से अन्तराय बचाना या अन्तराय होजाने पर क्रोध करना बहुत बुरा है। जिनमें भूख सहने की शक्ति नहीं है, उनका अन्तराय पालना व्यर्थ है।

कतिपय मुनि (ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिकाएं) व्रतपरिसंख्यान तप का आडम्बर करते हैं। वे भोजन के समय अनेक स्थानों में जाते हैं और जिनके यहां आहार नहीं होता, उनके या अन्य लोगों के पूछने पर कह देते हैं, आज हमारे उड़द की दाल का नियम था कि भोजन में उड़द की दाल होगी तो लेंगे, वह तुम्हारे यहां नहीं थी, या यह नियम किया था, कि सौभाग्यवती स्त्री, पीत वस्त्र पहिर कर पड़गाहेगी या पड़गाहने वाले के दरवाजे पर गाय बंधी होगी, तो आहार लूंगा, इत्यादि कह दिया करते हैं, इससे लोग आहार देने के लिये नाना

प्रकार के आडम्बर रचने लगते हैं। यहां तक कि श्री जी के ऊपर बंधे हुए छत्र, चमर आदि तक छोड़ कर ले जाते हैं। कोई गँठजोड़ा करके खड़ा होता है, कोई कुछ, कोई कुछ, नाना स्वांग बनाते हैं। भोजन में अनेक प्रकार की दालें, शाक, चटनी, मिष्टान्न, पकवान्न बनने लगते हैं। यह व्रतपरिसंख्यान क्या, आपत्तिसंख्यान बन जाता है। वास्तव में बात तो यह थी, कि ऐसी विचित्र प्रतिज्ञाएं संयमी जन अपनी शक्ति की परीक्षा और तप की वृद्धि आदि के हेतु करते थे और योग मिल जाने पर आहार कर लेते तथा न मिलने पर अन्तराय कर्म का उदय समझकर मौन पूर्वक ही लौट जाते थे तथा कभी भी किसी को आगे या पीछे अपनी प्रतिज्ञा प्रगट नहीं करते थे, क्योंकि प्रगट करने से गृहस्थ जन मोहवश आडम्बर बढ़ाने लगते हैं, जिसका दोष व्रती को लगता है। इसलिये अपनी शक्ति के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव का विचार करके ही प्रतिज्ञा मन में कर लेना चाहिये और सहज योग मिल जावे तो आहार ले लेना चाहिये। न बने तो समता रखना चाहिए। किसी के आग्रह पूर्वक पूछने पर भी कभी प्रगट न करना चाहिये।

यहां तक त्यागी, संयमी, व्रती जनों की वर्तमान परिस्थिति और उनके वास्तविक कर्तव्यों का संक्षेप में वर्णन किया। अब इस परमोपयोगी संस्था के प्रति गृहस्थों का क्या कर्तव्य है—यह कुछ बताते हैं।

त्यागी संयमी जनों के संयम की रक्षा और वृद्धि में गृहस्थ प्रधान हेतु हैं, सो यदि ये अपना कर्तव्य यथार्थ पालन करते रहें तो संयमी जनों में शिथिलता होने ही न पावे और यदि ये उपेक्षित या अन्धश्रद्धालु होजावें, तो संयमी जन को भी संयममार्ग में शिथिल

होजावेंगे। आजकल बहुत से सज्जन तो उपेक्षा धारण किये हुए हैं। उनको इसकी कुछ भी परवाह नहीं, भले यह संस्था रहे या बिगड़े या बन्द होजाय। बहुत से इसकी जरूरत ही नहीं समझते और वे इसको ढोंग आडम्बर आदि कह कर मिटाने ही का प्रयत्न करते हैं। किसी भ्रष्टचारित्री, अज्ञानी जीव का व्यवहार जो वह इस संयम के भेष में करता है, देखकर सम्पूर्ण त्यागी, संयमी जनों में, यहां तक कि संयममार्ग में भी अरुचि कर बैठते हैं, बहुत से अन्धभक्ति में आकर किसी किसी संयमी को उसके पद से बहुत ऊँचा बढ़ा देते हैं। जैसे एल्लक, क्षुल्लक आदि की नवधा भक्ति करना, दसमी प्रतिमा वाले की भिक्षु के समान चर्या कराना और चर्या करते हुए आते देख-कर पड़गाहना, ब्रह्मचारी आदि को भी अष्टांग नमस्कार करना, झूठे कल्पित अतिशय गढ़कर छापा में छपा देना, जैसे गिरनार के रास्ते में कुँआ का बन जाना और फिर लोप होजाना, मांगीतुंगी का पहाड़ सोने का हो जाना, सर्प के काटे हुए का मुनि के देखने मात्र से जहर उतर जाना इत्यादि। तथा दिन भर वैयावृत्य मानकर उनके हाथ, पग आदि शरीर दाबते रहना, दिन भर और रात्रि तक स्त्री, पुरुषों का संयमी जनों को घेरे रहना, उनसे सांसारिक वृद्धि के लिये, जैसे पुत्र की प्राप्ति होना, द्रव्य की प्राप्ति होना, बच्चों आदि की दीर्घायु होने, किसी मुकद्दमे (केश) में विजय पाने आदि की इच्छा प्रगट करके आशीर्वाद प्राप्त करने की इच्छा जाहिर करना। दवा, झाड़, यन्त्र, तन्त्रादि करने के लिये प्रार्थना करना इत्यादि इच्छाएं रखकर उनकी सेवा वैयावृत्य करके प्रसन्न करने और वर प्राप्ति करने का यत्न करना इत्यादि। इससे संयम मार्ग दूषित होजाता है अर्थात संयमी जनों में कषायें बढ़ जाती हैं। कोई धन, वस्त्रादि संग्रह करने में लग जाते हैं, किसी में ख्याति लाभ पूजा प्रतिष्ठा प्राप्ति की जिज्ञासा बढ़ जाती है।

कोई प्रमादी हो जाते हैं, कोई सुखिया स्वभाव वाले होजाते हैं, कोई भोजन के रुचिया होजाते हैं और इसलिए जिसकी कषाय की जहां पूर्ति होती है, वह वहां हो जाया करता है। भट्टारकों को बहुत द्रव्य और बढ़िया २ जरी, रेशम के वस्त्र भेंट कर २ के गृहस्थों ने ही शिथिलाचारी बनाया। इन्हीं के द्रव्य से वे पालकी, नालकी, रथादि में चलते थे, बीसों आदमी नौकर रखते थे, छड़ीदार, चोबदार, पट्टावाला, पहिरा वाला, भाट, जसौंदा आदि। यदि ये गृहस्थ उनको मात्र शुद्ध, सादा भोजन ही देते अथवा जो वे मुनिचिन्ह पीछी, कमण्डलु न रखकर या अपने आपको मुनि, आचार्य न मानकर अमुक प्रतिमाधारी श्रावक मानते, तो शुद्ध भोजन के साथ उनके पद के योग्य वस्त्र भेंट करते रहते, ऐसा करने से उनकी यह शोचनीय दशा न होती। न गद्दियां ही उठ सकतीं, परन्तु गृहस्थों ने उनको साधु नाम रखाते हुए भी राजाओं के जैसे आराम तलब बना दिया। उनके लिये समाज से कर (जगात) नियत कर दिया और उनकी गद्दियों में लाखों रुपया नकद व सोना, चांदी होते हुए तथा उनका दुरुपयोग होता हुआ देखकर भी बराबर भेंट व जगात देना कायम रक्खा। बराबर पूजा, सत्कार करते रहे। फल जो हुआ सो प्रत्यक्ष है। यदि श्रावक गृहस्थ द्रव्य देकर उसके सदुपयोग पर दृष्टि रखते तो जितनी भट्टारकों की गद्दियां (मठ) थे, वे आज गुरुकुलों व महाविद्यालयों के रूप में होते, व्यर्थ में भाट भोई न खा जाते, परन्तु गुरुमूढ़ता ने उनको ऐसा मोहित किया कि सर्व अनर्थों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए "बढ़े जाओ महरबान" की पुकारें ही लगाते रहे और अब भी इन गद्दियों में बहुत सम्पत्ति है, इससे यदि उपस्थित भट्टारक या जहां भट्टारकों का अभाव होगया और वहां की गद्दी की सम्पत्ति पञ्चों के आधीन है, उसे वे यदि विद्यासंस्थाओं में लगा देवें तो इस समय

भी कई गुरुकुल व विद्यालय, समाज की आर्थिक सहायता के बिना चल सकते हैं। भट्टारकों को भोजन, वस्त्र चाहिये सो आवश्यकतानुसार सादा भोजन, वस्त्र गृहस्थ अब भी देते व दे सक्ते हैं और बदले में उनसे उपदेशक का कार्य ले सकते हैं, इसलिये मैं समाज और उसके नेताओं का ध्यान इस ओर आकर्षित करता हूं कि वे विवेक से कार्य लेवें। प्रत्येक छोटे, संयमी का उसके पद के अनुसार ही सन्मान करें, न कम करें, न उपेक्षा करें, न संयम मार्ग को उत्थापन करने की चेष्टा करें और न अधिकता ही करें अर्थात् जिस प्रकार संयम मार्ग निष्कंटक चले, संयमी जन स्वपरहितसाधन में सावधान रहें और समाज उन से लाभ उठावे अर्थात् उनको आहारादि दान देकर, अस्वस्थावस्था में वैयावृत्य कर, पुण्यलाभ करे और उनके उपदेश से अपने ज्ञान-चरित्र की वृद्धि करे। ऊपर बता चुके हैं कि नवमी प्रतिमा से लेकर ऊपर की प्रतिमाओं में मात्र भोजन तथा आवश्यक पद के अनुसार वस्त्र व उपकरण और मुनिराजों को मात्र भोजन और उपकरण के सिवाय अन्य किसी द्रव्य या सवारी आदि की जरूरत नहीं होती, इसलिये जो कोई उनको उनके पद विरुद्ध पदार्थ देता है, वह उनको नीचे गिराने अर्थात् शिथिल बनाने की चेष्टा करता है, इसलिये इन त्यागी महात्माओं को जब वे विहार करते हुए, तुम्हारे पुण्योदय से तुम्हारे यहां पधारें और जब तक ठहरें, तब तक उनको ऐसा सुरक्षित एकांत स्थान जहां शीत, उष्ण या बरसात की बाधा न होवे। डांस, मच्छरादि जन्तु या चींटी, चींटा, खटमल आदि जन्तुओं की बाधा न हो, न आस पास कोई ऐसे लोगों की बस्ती हो, जिसके कोलाहल से उनके ध्यानाध्ययन में बाधा पहुंचे। वह स्थान प्रकाशवान व हवादार हो, ताकि संयमी जन शांति से ध्यान, स्वाध्याय कर सकें, इसी के साथ स्थान सादा होवे, उसमें न तो कोई जोखम (जिसके

चोरी जाने का भय हो) हो और न बनावट सजावट वाला मोहक हो, साफ सुथरा अवश्य हो, वहां केवल संयमी जनों के उपयोगी तख्त (पाट) तथा प्याल (कोदों व डांगर का घास) आदि ही हो, जिससे संयमी जनों को कहीं आने जाने के समय कोई प्रतिबंध न होने पावे, अर्थात चौकीदार या ताले कूँची की चिन्ता न करनी पड़े, न गृहस्थों को ही मनमें द्विविधा रहे, कि वहां जोखम है, मकान सूना न रहने पावे, चौकीदार रख दो इत्यादि, न त्यागी जनों के ध्यान स्वाध्याय के बाधक आकर्षक मोहक दृश्य हों, इन त्यागी संयमी जनों की इच्छा हो, वहां तक धर्म ध्यान साधते हुए ठहरें और जब अधिक जान पहिचान होने लगे तो उसे रागद्वेष का निमित्त जानकर चाहे जिस ओर स्वाधीनता से उठकर चलते बनें, उनको यह कल्पना ही न उठे, कि कोई आजाता तो उसको कह कर सौंपकर जाते, कहीं कुछ जोखम होगई, तो लोग हम ही पर शंका करेंगे, कि अमुक त्यागी मुनि ठहरे थे, वे बिना कहे चले गए। संभव है, कुछ दाल में काला हो और इस प्रकार शंका होने से वे फिर समस्त संयमी मात्र से घृणा कर बैठेंगे, इससे सन्मार्ग में अपवाद लगेगा, इस लिए पंचों को खबर देकर उनको जताकर सौंप कर जाना ही श्रेष्ट है इत्यादि। ये त्यागीगण स्वाधीन वृत्ति वाले होते हैं, जहां जब धर्म साधन होता देखते हैं, ठहर जाते हैं और उसमें बाधक कारण उपस्थित होते ही चल देते हैं, उन्हें किसी को कहने, पूछने, सौंपने की क्या जरूरत है? डर तो जब हो, जब जोखम पास रखते हों, या जोखमी स्थान में रहते हों। कभी २ ऐसा होता है, कि संयमी जनों के ठहरने के स्थान में यदि जोखम हो तो दुष्ट लोग मौके बे मौके कुछ उपद्रव कर बैठते हैं या कभी २ संयमी के भेष में कोई दुष्ट लो। वहां रहकर ऐसा कुछ गोलमाल कर जाते हैं, इसलिये "न होगा बांस न बजेगी बंसी" न

वहां जोखम होगी, न शङ्का और प्रलोभन का अवसर आवेगा, वहां कुछ होगा तब ही तो कोई चोर या भेषधारी ऐसा करेगा, अन्यथा नहीं। त्यागीजनों को भी ऐसे जोखमी व मोहक सजावट बनावट के स्थानों में न ठहरना चाहिये। इस प्रकार तो समस्त त्यागियों को चाहे वे परिग्रहत्यागी हों या अल्पपरिग्रही अष्टम प्रतिमा तक के हों उत्तम स्थान देना चाहिये। क्योंकि पहिले तो जोखमी जगह में ठहरना और पीछे नुकसान होने पर 'हायतोबा" मचाना एह अन्याय है, जैसा कि एक जगह एक उत्तम श्रावक को सरस्वती भवन में ठहरा दिया और जब वे चौमासा करके चले गए और सरस्वती भवन सम्हाला तो बहुत से लगभग १०० शास्त्र कम पाए, सुना है, ये महाशय कभी २ अपनी सेवा में रहने वाले भक्तों के द्वारा शास्त्रों की पार्सलें कराया करते थे, सो प्रथम भूल तो यह कि उनको ऐसी जोखमी जगह में ठहराया और दूसरी भूल यह कि सार सम्हाल न रक्खी न उनके जाने से पहिले भण्डार सम्हाला जाने के पीछे हो हल्ला घर ही घर में करके बैठ रहे और त्यागी मात्र में घृणा का भाव धारण कर बैठे, एक भेषी के अनर्थ कर जाने से समस्त व्रती त्यागी जनों से घृणा कर बैठना, झूँठे छली सच्चे त्यागियों को वैसा समझ बैठना घोर अज्ञान व अन्याय है, अपनी भूल को सुधारना और ऐसी घटनाओं से पाठ सीखना उचित है, तथा जो व्यक्ति किसी ऐसे धार्मिक (धर्मात्मा के) रूप में ऐसी या ऐसी अन्याय निंद्य क्रिया करें, जो उनके लिये अकर्त्तव्य हैं, उनको उचित शिक्षा देकर समाज को ऐसे व्यक्तियों से सावधान कर देना चाहिये, जिससे और कहीं वे ऐसा न कर सकें और समाज व संस्थाएँ ठगाई न जावें, कपटभेषियों को उचित शिक्षा मिलने से या तो वे अनर्थ करना छोड़ देंगे, या कपट-भेष छोड़ना पड़ेगा, इसलिये ऐसे व्यक्तियों के अन्याय को सहन करना

अन्याय का प्रचार करना है। यह स्थान सम्बन्धी बात हुई। श्वेताम्बर व स्थानकवासी साधुओं व साध्वियों के अपासरे तथा वैष्णव साधुओं के स्थान ऐसे ही बे जोखमी होते हैं और इसलिये उनके यहां इस प्रकार की शिकायत का मौका ही नहीं आता। कोई श्वेताम्बर साधु मन्दिर आदि जोखमी जगह में नहीं ठहरते।

दूसरी बात भोजन की है। सो पहिले बताया जा चुका है कि जो खुराक तुम रोज खाते हो व जो खाना है, वही शुद्ध बनाओ, उसमें कोई नवीनता करने की या भारी पुष्ट कीमती बनाने की जरूरत नहीं है, बस जो भी त्यागी, व्रती, संयमी, मुनि आदि पात्र आजावें, उसी में से उनके पद के अनुसार आदर पूर्वक भोजन करादो। इससे लाभ यह होगा, कि कोई भी संयमी चाहे कितने ही समय तक अपने नगर में रहे, परन्तु उसके प्रति अनादर का भाव न होगा। वह भारी न मालूम पड़ेगा क्योंकि उसके लिये कोई नवीन खटपट नहीं करनी पड़ती न कोई अधिक व्यय ही करना पड़ता है। भोजन में भोजन होजाता है। इसके सिवाय दूसरा लाभ यह है कि सादा खुराक जल्दी पच जाता है, शरीर में कोई भी उपाधि या बिकार उत्पन्न नहीं करता, न जिह्वा की लोलुपता ही बढ़ती है। निर्विघ्नता से धर्म साधन करता है, इससे और भी एक लाभ होता है कि जिव्हा-लोलुपी विषयी भेषी ठहरता भी नहीं है। सन्तोषी उत्तम संयमी पुरुष ही ऐसे स्थान में जहां प्रलोभन रहित स्थान तथा भोजनपान हो, ठहर सकता है और ऐसे ही सत्पुरुषों की जरूरत है। तात्पर्य--सुपात्र-अपात्र की परीक्षा भी होजाती है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है, कि हम जान करके ही त्यागी, व्रती जनों को सदैव रूखा, सूखा नीरस बेस्वाद ही भोजन पान दिया करें और परीक्षा ही करते रहें, किन्तु

यदि हमने किसी प्रसङ्ग से या अपनी इच्छा से अमुक मिष्टान्नादि बनाया है और वह शुद्ध है, या घर में घी, दूध आदि शुद्ध रस हैं, तो त्यागी जनों को उसी में से देना चाहिये, उनके जिस वस्तु का त्याग होगा, वह वे स्वयं नहीं लेवेंगे और जिस का त्याग न होगा ले लेवेंगे। यह देना यह न देना, इस विकल्प की जरूरत नहीं है। जो वस्तु सहज शुद्ध तैयार है, वह पात्र के रत्नत्रय को रक्षा व वृद्धि के लिये देना आवश्यक है, क्योंकि शरीर भोजन के आधार ही चारित्रादि साधनों में तत्पर रह सकता है, अन्यथा भोजन के अभाव में शरीर में शिथिलता, निर्बलता आजाती है, वात-पित्तादि भी कुपित होजाते हैं और अन्तरङ्ग में संक्लेशता बढ़ जाती है और तब चारित्र तथा श्रद्धा तक से संयमी चलायमान होजाता है। उसमें क्रोध, लोभादि कषाय बढ़ जाती हैं और वह द्रव्य के संग्रह में लग जाता है कि जिस दिन भोजन का योग न बनेगा, कोई गृहस्थ न पूछेगा, उस दिन संग्रहीत द्रव्य से भोजन मंगाकर या मेवादि या फलादि मंगाकर खा लेवेंगे और वस्त्रादि खरीद सकेंगे, परन्तु यदि गृहस्थ लोग बराबर सम्हाल रक्खें और भोजन पानादि का स्वकर्तव्य समझकर प्रबन्ध करते रहें तो त्यागियों के द्रव्य-संग्रह करने का भाव ही न उत्पन्न होगा, क्योंकि उनको जब हरएक स्थान में भोजनपान का प्रबन्ध मिलता जायगा तो द्रव्य संग्रह के प्रयत्न करने का भाव उत्पन्न नहीं होगा। वर्तमान समय में जैसा ऊपर बता चुके हैं, या तो त्यागी-व्रतियों को रूखे सूखे भोजन तक को कोई नहीं पूछता अथवा कहीं माल टाल निरन्तर बनते हैं, ये दोनों बातें अनुचित हैं। न मिलने से भी संयम की हानि और धर्म का अपवाद होता है और निरन्तर भारी पुष्ट अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजनों से भी संयम का घात व धर्म का अपवाद होता है, क्योंकि गृहस्थ, जिसके यहां विकार को शमन करने के कारण हैं, कभी २ प्रसंगवश या तीव्राकांक्षा

होने पर अपनी स्थिति के अनुसार भारी पुष्ट खुराक खाने का अवसर आता है, परन्तु त्यागी जनों को नित्य नए घरों में जाना पड़ता है और उसे निरन्तर ऐसी खुराक मिलती है, जो बहुत सम्भव है, कि रुचिकर विशेष होने के कारण कभी अधिक प्रमाण में भी खाई जा सकती है। सो या तो अजीर्ण होकर रोग उत्पन्न करेगी, या पचकर विकार प्रमाद पैदा करेगी। इसलिये गृहस्थों को चाहिये, कि अपने ग्राम व नगर में आये हुए किसी भी संयमी का ऊपर बताए अनुसार निर्दोष स्थान में ठहरा कर शुद्ध भोजन कराना चाहिये।

तीसरी बात है संयमी से उपदेश लाभ लेना, क्योंकि गृहस्थों की अपेक्षा त्यागी जनों के उपदेश का प्रभाव विशेष होता है, कारण कि वे केवल कहते ही नहीं हैं, किन्तु शक्ति अनुसार करके भी आदर्श-रूप होते हैं, इसलिये उनके नित्य नियम, सामायिक स्वाध्याय तथा शारीरिक आराम लेने के समय को छोड़कर, सबेरे, दोपहर के बाद या शाम को समय निश्चित करके एक साथ सभी नर नारियों को जाकर उपदेश सुनना चाहिये और अपने स्वाध्यायादि चर्चा के समय जो तर्क उत्पन्न हुए होवें और समाधान न हुआ हो तो उनका उत्तर जानने के लिये, या जाने हुए पदार्थ में विशेष स्पष्टता (खुलासा) करने के लिये उनसे विनय पूर्वक प्रश्न पूछना चाहिये, शक्ति प्रमाण यम, नियमादि भी लेना चाहिये तथा अपनी व अपनी समाज में प्रचलित कुरीतियों, हीनचारित्रादि को हटाना चाहिये, कोई दोष अपने चारित्र, व्यवहार में लग गया हो, तो ऐसे सुयोग्य, सुपात्र के निकट आलोचना करके प्रायश्चित्तादि लेना चाहिये, इत्यादि त्यागी जनों से अनेकों लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

यदि त्यागी संयमी विद्वान् है, तो सदुपदेश देवेगा, शङ्का

समाधान भी करेगा, योग्यता देखकर प्रायश्चित्तादि भी देगा और यदि वह पढ़ा नहीं होगा, तो अपने अज्ञान पर पश्चाताप करेगा, पढ़ने का प्रयत्न करेगा, सो ऐसे अपढ़ या कम पढ़े हुए त्यागी जनों को यदि अपने यहां साधन हो तो पाठशाला में पढ़ने का और घरों घर भोजन का प्रबन्ध कर देना चाहिये। यदि अपने यहां साधन न हो तो उनको किसी विद्यालय में, यथा बनारस, मोरेना, ब्यावर, मथुरा, सागर आदि में भिजवा देना चाहिये और उनके भोजन खर्च के लिये कुछ मासिक द्रव्य का प्रबन्ध करके उस संस्था के कोषाध्यक्षादि प्रबन्धकों के पास जब तक वे पढ़ते रहें, भेजते रहना चाहिये अथवा संस्थाओं में एक ऐसा फण्ड कायम कर देना चाहिये कि यदि कोई त्यागी जिज्ञासु पढ़ना चाहे तो उसको भोजन का प्रबन्ध संस्था कर देवे। सातवीं प्रतिमा तक तो वह स्वयं भोजन पान तैयार कर सकता है, ऊपर वाले दशमी प्रतिमा वालों तक को जैन रसोइया का प्रबन्ध करना होगा। बाद को तो फिर भिक्षुक हो जायगा, वह तो अन्य भिक्षु महात्माओं के सङ्ग में रहकर अभ्यास करेगा।

इसके साथ गृहस्थों को यह भी देखना होगा कि यह त्यागी मुनि आर्यिका एकाविहारी क्यों हो रहा है? क्योंकि एकाविहारी होने के दो ही हेतु होते हैं या तो कोई महात्मा मुनि, शास्त्र में कहे हुए एकाविहारी के लक्षणों से संयुक्त वयोवृद्ध होजाने पर अपनी आसन्न मृत्यु जानकर, इंगिनी या प्रायोगमन संन्यास धारण करने का अभिलाषी (इस संन्यास में किसी अन्य व्यक्ति की सहायता या वैयावृत्य की आवश्यकता नहीं होती है) अपने सङ्घ के आचार्य की आज्ञा लेकर एकाविहारी हुआ हो, सो ऐसे महान् तपस्वी, बहुशक्तिशाली, शरीर के मोह से रहित परम वीतरागी सङ्घ को छोड़कर, अपने साथ

किसी गृहस्थ व अन्य शिष्यादि नहीं रख सकता। वह तो स्वाधीन हुआ एकाकी विहार करता है और जब आयु को अत्यन्त क्षीण हुई जानता है, तब किसी बन, गिरि, गुफादि में इङ्गिनी या प्रायोगमन (इसमें तो अपनी वैयावृत्य आप स्वयं भी नहीं करता) धारण करके शरीर को त्याग कर उत्तम गति को प्राप्त करता है।

दूसरे प्रकार का एकाविहारी वह हो सकता है, जो सङ्घ से बाहर किया गया हो, परन्तु नौकर तो उसके भी साथ नहीं होगा, क्योंकि वेतन कहां से देगा?

उक्त दोनों प्रकारों में से प्रथम पूज्य है, ग्राह्य है, द्वितीय नहीं, क्योंकि द्वितीय प्रकार के मुनि एल्लकादि को पूजने, मानने से आचार्य सङ्घ का अपमान और उसके दोषों की पुष्टि होगी। शिथिलाचार और स्वच्छन्दता का मार्ग चल पड़ेगा, इसलिये एकाविहारी देखकर पूरी २ खोज करना चाहिये कौन है? कहां से आया? एकाविहारी क्यों हुआ? किस आचार्य का शिष्य है? क्या २ अभ्यास किया है? किस हेतु विचर रहा है, इत्यादि बातें मात्र उसके मुख से ही सुनकर नहीं मान लेना चाहिये, किन्तु पूरी तपास करना योग्य है, तथा क्षुल्लक, एल्लक आर्यिकाओं को तो एकाविहारी होना ही न चाहिये, क्योंकि इनके इङ्गिनी आदि संन्यास नहीं होता, इसके सिवाय बिना योग्यता के स्वच्छन्द होकर एकाविहारी होना, सर्वथा अनुचित है। गृहस्थों को चाहिये कि वे ऐसे व्यक्तियों को देखकर उनको किसी संघ में मिलवा देवें और यदि वे न मानें तो गृहस्थ भी उनको न मानें न पूजें तथा नौकर आदि साथ रखने वालों या यन्त्र, मन्त्र, दवा आदि करने वालों को तो मानना ही न चाहिये, न उनके साथ के मनुष्यों को फूटी

कौड़ी भी देना चाहिये, क्योंकि वे परिग्रह त्यागी हैं, उनके साथ इतना बड़ा चेतन परिग्रह बांध देना, घोर पाप होगा। यह ऐसा ही है, जैसे ब्रह्मचारी के साथ कन्या रख देना। ये त्यागी गण चार प्रकार के दान का प्रसङ्ग आने पर उपदेश तो कर सकते हैं, परन्तु किसी व्यक्ति विशेष या समाज विशेष पर दबाव देकर, किसी व्यक्ति विशेष को या संस्था विशेष को कुछ भी देने के लिये आदेश नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा करना राग द्वेष का कारण होजाता है। इसी प्रकार और यम नियमादि का उपदेश मात्र कर सकते हैं। दबाव देकर बलात नियम नहीं दिला सकते। इसका भी परिणाम अच्छा नहीं होता जो पहिले बता चुके हैं। ऐसी ही अनेक बातों से तथा उनकी कषायजनित प्रवृत्ति से गृहस्थों को पात्रों की परीक्षा होजाती है। इसलिये ऐसे व्यक्तियों के स्वास कर एकाकी विचरण पर नियमन कर देना चाहिये, कि जो आत्मज्ञान रहित हैं, तत्वज्ञान शून्य हैं, क्रोधादि कषायों तथा इन्द्रिय विषयों, खास कर जिह्वा इन्द्री के आधीन हैं, क्योंकि इनसे परका उपकार तो हो ही नहीं सकता, किन्तु इनके स्वयं का बहुत बिगाड़ है। इस प्रकार त्यागी जनों से धर्मोपदेश प्राप्ति की बात हुई। अब उनके विहार की बात कहते हैं।

जब कोई त्यागी–व्रती, तुम्हारे ग्राम व नगर से अन्यत्र जाना चाहें तो नवमी प्रतिमाधारी तक तो कुछ करना ही नहीं है, वे तो परम त्यागी, शांत स्वभावी, स्वाधीन विहारी हैं, जब जिस ओर उनकी इच्छा हुई, चल दिये, न मजूर चाहिये, न रक्षक चौकीदार और न मार्ग दर्शक ही, क्योंकि पास में न भार है, न परिग्रह के लुट जाने का भय, न अमुक स्थान का प्रोग्राम है, न वे किसी को कभी अमुक मिती तक अमुक स्थान में पहुँचने का वचन ही देते हैं और न देना ही

चाहिये, तथा गृहस्थों को भी उनको ऐसे वचनबद्ध करके पराधीन न बनाना चाहिये, क्योंकि उन्होंने दर्शन देने के लिये त्याग भाव व संयम स्वीकार नहीं किया है, जो तुम्हारे कहने से तुम्हारे यहां आवेंगे और वचनबद्ध बनकर तुम्हारे साथ २ तुम्हारी इच्छानुसार विहार करेंगे। हां! यदि तुमको दर्शन की व धर्मोपदेश सुनने की इच्छा है तो जहां वे संयमी हों, जाकर दर्शन कर सकते, व धर्मोपदेश सुन सकते हो। इसलिये ये तो स्वाधीन विहारी हैं. सो इनमें से मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक तो चौमासा (वर्षा ऋतु सम्बन्धी) के सिवाय अन्य ऋतुओं में एक रात्रि से लेकर अधिक से अधिक पांच रात्रि तक बड़े नगर के निकट ठहर सकते हैं, अधिक नहीं, क्योंकि जितना थोड़े जन समुदाय का स्थान होगा, उतनी ही जल्दी लोगों में अधिक जान-पहिचान हो जावेगी। अधिक संख्या वाले ग्राम में कुछ समय अधिक लगेगा, इसीलिये यह दिनों की मर्याद पूर्वाचार्यों ने बांध दी है, क्योंकि लोगों में जान पहिचान करके इन यतियों जनों को क्या लेना देना है? क्या व्यवहार करना है? मात्र भोजन के लिये ये जानपहिचान नहीं करते। इसी जानपहिचान से बचने के लिए तो त्यागी हुए हैं, और यदि अब भी वही करते रहे, तो त्याग क्या किया? मूर्च्छा तो कायम रही। इसलिए ये महापुरुष जितने में जान पहिचान न होने पावे, उतने समय के अन्दर ही विहार कर जाते हैं। चौमासे में तो त्रस जीवों की उत्पत्ति विशेष होजाने से ही, उनकी रक्षार्थ, इनको एक ही नगर या ग्राम के समीप किसी प्रासुक स्थान में ठहरना पड़ता है, क्योंकि अधिक काल रहने व लोगों में जान पहिचान होने, उनके पारस्परिक व्यवहारों का विशेष परिज्ञान होने से, राग-द्वेष की प्रवृत्ति आत्मा में हुए बिना नहीं रहती, इसलिए उनका विहार तो निश्चित और स्वाधीन है। हम अधिक से अधिक उनके विहार में वे जिस ओर विहार

करते हों, उस ओर को निष्कंटक मार्ग दर्शाने के लिए किसी ग्राम विशेष तक जा सकते हैं।

रहे उनसे नीचे श्रावक ! सो वे किसी भी क्षेत्र में अपना ज्ञानाभ्यास बढ़ाने व चारित्रादि गुणों की वृद्धि, धर्म ध्यान का सुयोग्य साधन देखकर अधिक समय, जहां तक कि उनके भी अन्तरङ्ग राग द्वेष व कषायभावों तथा इन्द्रिय विषयों की कमी होती रहती है, ठहरते हैं और जब कुछ बाधा देखते हैं, तो बिहार कर जाते हैं, सो नवमी, दशमी प्रतिमाधारी जनों को तो मात्र मार्गदर्शक देकर बिदा करना चाहिये और उनसे नीची प्रतिमा वालों को यथायोग्य, मार्गदर्शक या मजूर या सवारी आदि का उचित प्रबन्ध करके बिदा करना चाहिये। कम से कम उनको किसी सुयोग्य स्थान (जहां श्रावकों का समुदाय हो) तक पहुँचा देना चाहिये। खास परिचित विद्वान् तथा योग्य त्यागी, ब्रह्मचारी आदि के सिवाय सबको लम्बे २ टिकटों के लिए रुपया नहीं देना चाहिए। इसकी हानि ऊपर बता चुके हैं, जहां तक हो सके नकद द्रव्य देने का समय ही न लाना चाहिये। रहें तब तक तो भोजन, वस्त्र, पीछी, कमण्डलु, शास्त्रादि उपकरण देना और चलते समय अमुक स्थान तक पहुंचा देना। इसी प्रकार करुणादान में भी भोजन, वस्त्र, औषधादि देना ठीक है। हां ! करुणादान प्रत्येक गृहस्थ व प्रत्येक प्राणी के लिये होता है, इसलिये उसमें स्थान व नकद द्रव्य भी योग्यायोग्य पात्र देखकर दिया जाता है, परन्तु त्यागीजनों को उसकी जरूरत नहीं है। परिग्रहत्यागी तो पैदल ही बिहार करेंगे और उससे उनको तथा जनता को विशेष लाभ पहुंचेगा, उनके चरित्र की रक्षा होगी और लोगों को सन्मार्ग का उपदेश मिलेगा, तथा परिग्रह के त्यागी न होते हुए भी यदि लम्बी २ यात्राएँ न करके मार्ग के प्रत्येक श्रावक

के स्थानों में, चाहे वह पग रास्ते पर हो या मोटर या रेलवे मार्ग पर, यदि ठहरते हुए विहार करें, तो एक तो एक ही स्थान के श्रावकों पर खर्च का अधिक भार न आवेगा, दूसरे ग्रामों ग्राम लोगों को उपदेश का लाभ और इनके सामायिकादि व्रतों की रक्षा होती रहेगी, इसलिए इनको कम से कम दो तीन त्यागियों के सङ्ग सहित विचरना चाहिए और गृहस्थों को इनका योग्य प्रबन्ध करते रहना चाहिये।

इस प्रकार कुछ संक्षेप में त्यागी संयमीवर्ग की वर्तमान प्रणाली उनके और गृहस्थों के कर्तव्यों का दिग्दर्शन कराया, अच्छा हो कि त्यागी संयमीवर्ग और गृहस्थवर्ग अपने अपने दोषों को या भूलों को स्वयं सुधार लेवें, क्योंकि त्यागीवर्ग तो हमेशा से गृहस्थों का उपदेशक सुधारक रहा है और इसलिए यदि वह अपनी नीति व धार्मिक व्यवहार आगमानुसार कायम रखता रहेगा, तो हमेशा वह गृहस्थों का गुरु बना रहेगा; परन्तु यदि उसने अपनी वर्तमान रीति नीति, जो शिथिलता पोषक और दूषित पकड़ रखी है, न छोड़ी, तो उलटी गङ्गा बहना सम्भव ही नहीं, जरूरी हो जायगा और गृहस्थों को इन त्यागी संयमीवर्ग पर नियन्त्रण रखना पड़ेगा, इनके साथ सहकार असहकार बहिष्कार का प्रश्न खड़ा हो जायगा, तब धर्म और समाज दोनों को बहुत हानि उठानी पड़ेगी, क्योंकि यों ही दुर्भाग्य से जैनियों की संख्या नाम मात्र शेष है, उस में भी दिगम्बर श्वेताम्बरादि के भेद पड़े हैं, इसके सिवाय तेरापन्थी, बीसपन्थी, बाबू पार्टी, पण्डित पार्टी, सुधारक स्थितिपालक आदि कितने भेद तो हो ही रहे थे, परन्तु अब तो जो भेद भाव को मिटा कर शान्ति का स्थापक त्यागी संयमीवर्ग था, सो ही भेद भाव का प्रबल कारण बन रहा है, क्योंकि प्रायः अनेकों स्थानों में इन संयमी [त्यागीजनों] के पहुँचने से ही समाज में फूट व भेद पड़ जाता है। किसी को दर्शन से रोका जाता है, किसी की पूजा

बंद की जाती है, किसी का चालू भोजन बेटी व्यवहार रोका जाता है, कई इनके भक्त होते हैं और कई विरुद्ध हो जाते हैं, इस तरह विरोध बढ़ता जाता है, खेद तो इस बात का है, कि जिन से शान्ति की आशा की जाती थी, वे ही अशान्ति के हेतु बन जाते हैं। इसलिए यदि संयमीवर्ग स्वयं अपने दूषित व्यवहार को न बदलेगा अर्थात् शान्ति के इच्छुक सच्चे विरक्त विद्वान् त्यागी-संयमी अपने मार्ग में आए, अपवाद या अपवादी प्राणियों का सुधार न करेंगे, तो गृहस्थों को उनके सम्बन्ध में हस्तक्षेप करने का यत्न करना ही पड़ेगा, इसलिए अच्छा हो कि दोनों अपने अपने संघों का स्वयं सुधार करें और एक दूसरे से सहकार रक्खें, उनके सुधारने में सहायक होवें।

(२) अब दूसरे प्रकार के गृहस्थ विद्वान् उपदेशकों के सम्बन्ध में कुछ और विचार करेंगे, यद्यपि प्रारम्भ में इनके विषय में कुछ कहा गया है, तथापि कुछ और विचारणीय है, वह यह "कि त्यागी (संयमी) आदि की मूल तो ये गृहस्थ विद्वान् ही हैं, क्योंकि हमेशा से त्यागी (संयमी) तो गृहस्थों में से ही हुआ करते हैं, सो यदि यह विद्वान् गृहस्थवर्ग सदाचारी, धर्मात्मा, विवेकी, अनुभवी, स्वपरहितचिंतक होगा, तो त्यागीवर्ग अवश्य ही सुधरा हुआ होगा।"

तात्पर्य—जिन सद्गृहस्थों ने घर में रह कर यथेष्ट रीत्या धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थों का सेवन किया है, वे गृहस्थ ही संसार शरीर भोगों का वास्तविक स्वरूप जानकर उससे होने वाले सुख दुःखों का अनुभव [ज्ञान] प्राप्त करते हैं और पश्चात् उनको नश्वर निश्चय करके विरक्त हो जाते हैं, वे ही अन्तिम पुरुषार्थ [मोक्ष] के साधन करने में अग्रसर होकर सफलता प्राप्त करते हैं, परन्तु जिन्होंने घर में रह कर उक्त पुरुषार्थों का अविरोधेन साधन नहीं किया है वे बेचारे यदि गृहत्यागी

संयमी बन जावें तो सिवाय संयम मार्ग में अपवाद लगाने के और कुछ भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, जैसा कि वर्तमान समय में देखा जाता है, कहा है, "जिन से घर मांहि कछू न बनी, उन से बन मांहि कहा बन है" ।

इसलिए त्याग मार्ग में आने से पूर्व घर में रह कर ही सर्व प्रथम अपने सम्यक्त्व को निर्मल निर्दोष बनाना चाहिए और क्रमशः सप्त व्यसनों का त्याग तथा अष्ट मूल गुण पालन निर्दोष रीत्या करना चाहिए, अहिंसा में संकल्प करके त्रस स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग और आरम्भी, उद्योगी, विरोधी आदि हिंसाओं में लाचारी से विवेक पूर्वक जिसके बिना न चल सकता हो अर्थात् जो अपनी वर्तमान परिस्थिति में करना अनिवार्य हो उसे उदासीनता से करता हुआ भी उससे विरक्त होवे । ऐसे वचन जिन से स्वपर का घात होवे, निंद्य वा कठोर होवें, न बोले, असत्य न बोले, परवस्तु (अन्य के स्वामित्व की वस्तु) को आवश्यकता होने पर भी बिना उसकी आज्ञा के न लेवे, गिरी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई व चोरी आदि से प्राप्त वस्तु को ग्रहण न करे, राज्य का कर चोकीमहसूल, रेल टिकट भाड़ा आदि की चोरी न करे, चोरों से सम्बन्ध न रक्खे, अपनी विवाहित स्त्री में सन्तोष करके शेष नारी जाति में माता बहिन पुत्री का भाव रक्खे, किसी को भंड वचन न बोले, कुत्सित गाली या हँसी मजाक न करे, यदि लग्न नहीं हुआ हो, तो न्याय से द्रव्योपार्जन करके स्वकुलयोग्य सुलक्षणा कन्या से पाणिग्रहण कर सकता है, अन्यथा ब्रह्मचारी रहे, उत्तेजना में आकर अनङ्गक्रीड़ा या हस्तक्रिया आदि कभी न करे ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए इतनी बातों से बचेः--

"स्त्रीरागकथाश्रवण, तन्मनोहरांगनिरीक्षण, पूर्वरतानुस्मरण, वृष्येष्टरससेवन, स्वशरीरसंस्कार" इन बातों से बचे अर्थात्

जिन कथाओं नाटकों या उपन्यासों के पढ़ने सुनने से या जिस प्रकार के गानादि सुनने से कामोत्तेजन होना हो, ऐसे शृङ्गार रस के ग्रन्थादि न पढ़े, न सुने, न ऐसे खेल, तमाशे, नाटक, सिनेमा देखे । स्त्रियों के उन अङ्गों को न देखे जिनको कामोत्तेजन के हेतु या कामांग कल्पना करते हैं, अच्छा तो यह है, कि स्त्रियों का संसर्ग ही बचाना चाहिए, वह भले ही अपनी माता बहिन बेटी ही क्यों न हो ? भले वह अति बाला या वृद्धा ही हो । उन से भी कभी एकान्त में न मिले, उनके भी संसर्ग में निरन्तर न रहे क्योंकि मन चञ्चल और काम अन्धा होता है, न जाने कब कैसे कैसा कारण बन जावे, मन चञ्चल हो उठे, बचन काबू बाहिर हो जाय, शरीर अधीर बन जाय इत्यादि । स्त्रियों के वस्त्रों जैसे चादर, कम्बल, गादी, पलङ्ग आदि का उपयोग न करे, उनके झूठे भोजन भी न करे, न अपना झूंठा किसी को खिलावे, यदि कभी मिलना पड़े जैसे भोजनादि कारणों से, तो उनके सन्मुख न देखे, नीचे या अन्यत्र दृष्टि रखकर भोजन करले या आवश्यक धर्म चर्चा कर लेवे और यथा सम्भव शीघ्र ही वहां से हट जावे या उनको चले जाने के लिए कह देवे । पहिले भोगे हुए भोगों का स्मरण कभी न करे, यह बात उन में होती है, जो विवाहित हो चुके हैं और उनकी पत्नी का वियोग हो गया है या वे उसे त्याग चुके हैं या जिन्होंने अज्ञान अवस्था में कुसङ्गति में पड़ कर अन्याय मार्ग से कुमार कालमें ही अपने ब्रह्मचर्य का घात कर लिया है, किन्तु जो कुमार हैं, विद्यार्थी हैं, जो अपने ब्रह्मचर्य से स्खलित तो नहीं हुए हैं, परन्तु काव्य (शृङ्गार रस के) ग्रन्थों का अध्यन करके काल्पनिक भोगों का भावी चित्र बना लेते हैं, ऐसे निर्बल प्राणियों को सचेत रहना चाहिए, न पूर्व अनुभूत भोगों का स्मरण ही करना और न भावी कल्पनासागर में गोते ही खाना चाहिए । ब्रह्मचर्य की रक्षार्थ उत्तेजक पदार्थों का सेवन न करे,

जैसे पौष्टिक मिष्टान्न, मेवादि भारी खुराक, मिर्च, खटाई आदि तीक्ष्ण मसाले, बाजारू गन्दी मिठाइयां, नशे करने वाली सभी मादक वस्तुएं, बीड़ी, सिगरेट, गांजा, भांग आदि सोडा, लेमनेड, कुल्फी, मलाई आदि न खावे-पीवे। स्वशरीरसंस्कार अर्थात् अपने शरीर को नाना प्रकार से मन व इन्द्रियों को विकृत करने वाले वस्त्राभूषणों से सजाना, जैसे नाना प्रकार के फैशनेबुल बालों का रखाना, उनको अनेक प्रकार से सुगन्धित तेलों से रंजित कर के कंघी करना, सायुन लगा लगाकर नहाना, पतले और विदेशी वस्त्र, विदेशी चाल ढाल के वस्त्र पहिनना, इत्यादि स्वपर को विकार उत्पन्न करने वाले सभी श्रृंगार न करे।

तात्पर्य—सादा भोजन और सादा वेष रक्खे, आजीविका के समय के अतिरिक्त शौच भोजन, शयनादि आवश्यक क्रियाओं का समय निश्चित कर लेवे और शेष समय ज्ञान अभ्यास में, सत्समागम में, देवार्चन व ध्यानादि में लगावे, एकान्त में तत्त्वों का मनन करे, जोर से या मध्यम स्वर में जिनगुणस्तवनादि करे स्वाध्याय में काल निर्गमन करे, इस प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा हो सकती है। अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार आभ्यंतरिक कषायों को रोकने उन पर अधिकार प्राप्त करने के लिए, बाह्य धन धान्यादि, परिग्रहों का प्रमाण कर लेवे और न्याय मार्ग से उनको प्राप्त करने के साधन करता रहे, प्रमाण से अधिक संग्रह की चेष्टा न करे। अपने उपार्जित या पुण्योदय से प्राप्त धन में से ही स्वशक्ति अनुसार आहार, औषधि, ज्ञान (शास्त्र) व अभयादि दान देता रहे, क्योंकि जो सदा कुछ न कुछ त्याग, भक्ति या करुणा से, करता रहता है, वह अवसर आने पर सर्वस्व भी त्यागकर सकता है, परन्तु जिसको त्याग, (दान) का अभ्यास नहीं है उसे कदाचित् दुर्भाग्य से धन की, चौरादि द्वारा या व्यापारिक घाटे के कारण हानि उठानी पड़ती है या आयु क्षीण होने आदि कारणों से

मरण के सम्मुख होना पड़ता है, तो वह जीव धन के मोह से दुखी होकर आर्त-रौद्र भावों से मर कर दुर्गति में चला जाता है, ऐसा पुरुष इस जन्म में त्याग (संयम) तो कर ही नहीं सकता है, इस लिए सदैव अपनी कमाई का कुछ अंश परोपकार में लगाते रहना चाहिये।

गुणी जनों का आदर करना, समस्त जीवों में मित्र भाव रखना, दीन जीवों में करुणाभाव रखना विमुख प्राणियों या पदार्थों में उपेक्षा भाव रखना, विचारना कि "जग के पदार्थ सारे, वर्तें इच्छानुसार जो तेरे तो तुझको सुख होवे, पर ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि शाश्वत परिणमन उनका, उनके आधीन रहता, तू निजाधीन चाहे सो वृथा खेद करता" इस प्रकार का अभ्यास जो गृहस्थ या विद्यार्थी अपने गृहीजीवन या विद्यार्थी जीवन में करता रहता है, उसका गृहस्थजीवन तो आनन्द से अपवाद रहित बीतता ही है, किन्तु यदि वह त्याग मार्ग में आता है तो एक आदर्श त्यागीबनकर स्वपरहित करने में समर्थ होता है, धर्मप्रभावना का एक अङ्ग बन जाता है, उसका साधर्मीजनों में वात्सल्य होता है और साधर्मीजनों की उस में श्रद्धा-भक्ति होती है। वह याचना करना तो घोरान्घोर पाप समझता ही है, परन्तु यदि कोई उसे भक्तिपूर्वक वस्त्रादि भेंट करता है, तो भी आवश्यकता से अधिक स्वीकार नहीं करता, सो भी पहिले की जीर्ण शीर्ण वस्त्रों के बदले ही और वह भी शुद्ध खादी के स्वदेशी मोटे सादे, द्रव्य तो स्वीकार करता ही नहीं है यथाशक्ति क्रम २ से पैदल यात्रा करता है और गृहस्थों के घर बनाया हुआ शुद्ध सात्विक सादा हलका भोजन स्वीकार करता है, नवमी प्रतिमा से वह परम निस्पृह, निर्भीक, धीर वीर गम्भीर महात्मा बन जाता है और दशमी प्रतिमा से आगे तो तभी बढ़ता है जब कि वह पूरी तौर से यह खातरी कर लेता है, कि अमुक प्रान्तों व उनके जिलों में निकट २

रहने वाले ग्रामवासी जैनी भाई स्वयं अपने अपने घरों में शुद्ध भोजन ही ग्रहण करते हैं, अर्थात् गृहस्थों के घर स्वभाव से शुद्ध भोजन बनता है और वे किसी भी त्यागी व्रती के लिए कोई नवीन योजना नहीं करते, किन्तु उनको अपने घरों में तैयार हुआ शुद्ध भोजन ही बिना संकोच या बिना हिचकिचाट के दे देते हैं, उसमें उनको न तो द्रव्य का नया खर्च उठाना पड़ता है और न समय ही अधिक लगाना पड़ता है और न व्यापारादि किसी कार्य में हानि ही होती है, अर्थात् उनको किसी अतिथि को उसके पद अनुसार भक्ति व श्रद्धा से भोजन करा देना एक साधारण नित्य कर्तव्यसा सरल हो गया है, ऐसी प्रवृत्ति जब वे गृहस्थों में देख जान लेते हैं, तब ही उद्दिष्टत्यागव्रत स्वीकार करते हैं, अन्यथा वे दशमी प्रतिमा से आगे नहीं बढ़ते। इतने से संतुष्ट रह कर आगे के लिए क्षेत्र तैयार करते हैं, लोगों को शुद्ध खाना, शुद्ध बनाना, चौका शुद्ध रखना आदि बातें सिखाते हैं दशमी प्रतिमा में वे अपने लिए या लौकिक कार्यों के लिए अनुमति नहीं देते, परन्तु अपने हेतु बना हुआ भोजन स्वीकार कर सक्ते हैं, क्रिया धर्म का उपदेश दे सक्ते हैं दान की विधी बता सक्ते हैं, धर्म कार्यों में मात्र धर्मप्रभावनार्थ अपनी सम्मति दे सक्ते हैं, वे उद्दिष्ट त्यागी नहीं होते, परन्तु होने के लिए उत्सुक रहते हैं।

इस से नीचे अष्टम प्रतिमा वाले अपना निजी कुछ द्रव्य रखते हैं और जरूरत पड़ने पर उसी में से खर्च करते रहते हैं और जब वह खर्च हो जाता या अन्य प्रकार से नष्ट हो जाता है, तो नवमी प्रतिमा ग्रहण कर लेते हैं, ये नवीन कमाई नहीं करते न गृहस्थों से ही लेकर संग्रह करते, सदैव नवमी प्रतिमा के लिए तैयार रहते हैं और नीचे सप्तमादि प्रतिमा वाले स्वपुरुषार्थ से द्रव्य कमाते हैं

और अपना व्रत संयम पालते हैं, किसी भी व्रती संयमी में दीनता या याचक वृत्ति कभी भी नहीं पाई जायगी, यह तभी हो सक्ता है जबकि घर में रह कर जिन्हों ने अपनी विषय वासनाओं को भोगों का अनुभव करके या अपने ज्ञान वैराग्य के बल से नष्ट कर दिया है, जिन का गृहस्थ जीवन निरापवाद बीता है, जिन्हों ने घर में ही साधु जीवन का अभ्यास किया है जिन को अब कोई इन्द्रियविषय पूर्ति को या कषाय पोषने की आकांक्षा नहीं रही है जो पुरुषार्थी हैं, धर्मात्मा धर्म और धर्मी में प्रीति रखने वाले हैं, द्रव्य कमाकर जिन्हों ने उसे उचित-रीत्या भोगा है वे भला त्याग मार्ग में क्यों नहीं आदर्श होंगे ? अवश्य होंगे। इसलिए ऊपर बताये अनुसार गृहस्थजनों को स्वयोग्य आचरण पालना चाहिए, समाज के समस्त विद्वानों को शुद्ध (क्रिया-कोष के अनुसार) भोजन का नियम कर लेना चाहिए, जबकि आगम का वचन है कि पंचमकाल के अन्तिम दिवस तक मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका मिलेंगे, तो फिर क्या कारण है कि वर्तमान पंचम काल के प्रथम पाद ही में मुनि आर्यिका उद्दिष्ट त्यागी श्रावकों की चर्या में बाधा आने से ये पद उठ जावें (बंद होजावें) जब आज भी नग्न दिगम्बर लिंग धारण करने वाले साहसी पुरुष देखे जाते हैं। यद्यपि वर्तमान उच्च संयमीजनों में विद्वान् व्यक्ति बहुत कम हैं, तथापि संयमी-जनों का अभाव नहीं है, उन में जो दोष चर्यासम्बन्धी लगता है, वह गृहस्थों के आधीन है, यदि ये लोग स्वयं शुद्ध खानपान करने लगें और लिंगमोहवश जो नया और अजोड़ आडम्बर करते हैं, जैसे संयमियों के आने पर मिष्टान्न आदि विशेष २ भोजन बनाना, रसोई घर में संयमी के हेतु मेवा फल वगैरः एकत्र करना आदि छोड़ देवें और प्रातःकाल प्रथम पहर बीतने पर लगभग २ घन्टे तक संयमीजनों के आगमन की बाट देखें, यदि पुण्योदय से प्राप्त होजावें,

तो उनको संविभागरूप से आतिथ्य (भोजन) कराकर पश्चात् आप सहपरिवार भोजन करें, इसी प्रकार शाम को तीसरे पहर के पश्चात् डेढ़ घन्टे तक मार्ग देखकर भोजन करे, यदि उत्तम, मध्यम, जघन्य आदि पात्र न मिलें, तो दुःखित बुभुक्षित जीवों को करुणा करके भी कुछ दान अवश्य देवें। आज कल हर जगह उद्दिष्ट त्यागियों के भोजन की चर्चा चलती रहती है कि सभी उद्दिष्ट त्यागी, उद्दिष्ट भोजन ग्रहण करते हैं और इस लिये संयम के मूल में घुन लग जाता है इत्यादि। परन्तु खेद तो यह है कि ऐसी चर्चा करने वाले गृहस्थों ने भी तो गत पन्द्रह वर्षों में जब से कि उद्दिष्ट त्यागीजनों की विशेष संख्यावृद्धि हुई है, अब तक शुद्ध भोजनपान करना स्वीकार नहीं किया और तो क्या कम से कम अपने घर चौके, जो स्वाधीन हैं, शुद्ध न बनाये। समाज के विद्वान् धर्मशास्त्रों के वेत्ता पण्डित जनों ने भी शुद्ध भोजन पान का नियम न लिया, अपनी निर्गल स्वच्छन्द खान पान की प्रवृत्ति को न रोका और समालोचना तो कायम रही, भला जब ये गृहस्थ और धर्म के मर्म को जानने वाले विद्वान् भी अपने आप को न सुधार सके तो वे संयमी जिन्होंने देखादेखी या दबाव में आकर या ख्याति लाभ पूजादि की इच्छा से ही, अक्षरज्ञानहीन होते हुए भी, बिना ज्ञान श्रद्धान और वैराग्य के ही भेष धारण कर लिया है, अपनी भूलें कैसे स्वीकार करते, छोड़ते ? इस पर भी इन विद्वानों ने उनकी भूलों को उन्हें न बताकर उल्टा भोली जनता को गुण रूप से बताया और दूषित संयमीजनों को सच्चों की भांति पुजवा दिया, फल यह हुआ कि सदोष व्यक्ति अपने को पूज्य पदारूढ़ देखकर और विद्वानों को अपने समर्थक जानकर और भी स्वच्छन्द बन गये, नाना प्रकार अकथनीय दोष लगाने लगे, कोई तो उसी भेष में और कोई भेष त्यागकर कुमार्ग में प्रवेश कर गये, अब विद्वानों ने ऐसा क्यों किया ? तो कितनेकों ने तो

इसलिये समर्थन कर दिया, कि किसी प्रकार पीछा छूटे, ऐसा न हो कि महाराज कहीं हम लोगों को भी संयममार्ग में आने या शुद्ध भोजनादि का नियम कर लेने का हठ पकड़ बैठें, तो बड़ी मुश्किल होगी. इसलिये ज्यों त्यों बातें बनाकर मौका देख खिसक जाते, या सामने पड़ ही गए, तो नियम पालन करने में असमर्थता दिखाई. तब लोगों की आवाजें होने लगीं जब तुम स्वयं भ्रष्टाचारी हो, तो तुमको दोष दिखाने का क्या अधिकार है, चुप रहो ! इत्यादि । इसके सिवाय कितनेक स्वार्थवश हो इन सदोषीजनों की हां में हां मिलाकर अपना स्वार्थ-साधन करते रहे, गुजरात के पेथापुर ग्राम मे भेषी मुनीन्द्र मण्डली ने चौमासे का स्वांग किया था. वहाँ एक न्यायतीर्थ पण्डितजी अपने ससुर साले आदि परिवार सहित आगए थे, चौमासे में वेतनादि के बहाने हजारों रुपया तो ले ही चुके थे, परंतु तृष्णा फिर भी न मिटी इस लिये मुनीन्द्र के नाम से १ प्रेस भी खोलने का प्रस्ताव कर दिया, रुपये भी लगभग (१२००) के इकत्र होगए, परंतु प्रेस गुजरात भावनगर में न आकर पण्डित जी के घर पहुँच गया, लोग समझ गए और किसी प्रकार से प्रेस वापिस भावनगर मँगा लिया, तात्पर्य अनेकों ऐसे स्वार्थी विद्वान् साथ लग जाते हैं और मूर्ख भेषी को मान पर चढ़ा चढ़ाकर अपना स्वार्थ साधते हैं, भोली जनता भेष मात्र से ठगाई जाती है ? इस प्रकार समाज में संयम के स्थान में ढोंग पूजा व पुजाया जारहा है ।

मैं क्षमा चाहता हूं, परन्तु कटुक सत्य कहे बिना नहीं रह सक्ता, मैं तो यही कहूंगा कि यह सब दोष धार्मिक पण्डित विद्वानों का है, प्रथम तो यह कि वे स्वयं त्याग संयम मार्ग में नहीं आते और इसी लिये वे झूंठे ढोंगों व ढोंगियों का प्रतीकार भी नहीं करते, नहीं तो क्या कारण है कि समाज में आज अनेकों अच्छे गण्यमान्य विद्वानों के होते हुये भी इस प्रकार अज्ञानी जनों के द्वारा संयम मार्ग दूषित किया

जाय । क्या उनका उपदेश दूसरों ही के लिए है ? क्या वे "दीपक के नीचे अँधेरा" वाली कहावत चरितार्थ नहीं करते हैं ? यदि नहीं तो क्यों नहीं आगे बढ़ते ? यदि वे मानते हैं कि द्रव्य क्षेत्रकाल भाव उद्दिष्ट-त्यागादि संयम के अनुकूल नहीं है, तो उनको या तो अनुकूल स्वयं आदर्श बनकर बनाना चाहिए या मिलकर घोषणा कर देना चाहिए कि इस समय कोई उद्दिष्ट त्यागी नहीं हो सकता, इसलिए कोई ऐसा ऊंचा संयम धारण न करे और समाज को सूचित कर देवें कि अभी उद्दिष्ट त्याग संयम के योग्य [उपयुक्त] समय नहीं है. जो कोई ऐसा रूप बनावे, तो उसे न मानना चाहिए, अन्यथा संयम का अपवाद हो जायगा इत्यादि। यदि द्रव्य क्षेत्रकाल अनुकूल हैं तो सबको है. यदि अपढ़ जनों को है, तो पढ़े लिखे सज्जनों को तो और भी अधिक अनुकूल है, इसके सिवाय कदाचित् उद्दिष्ट त्याग न बने तो उत्तम दशम प्रतिमा मध्यम ६-८-७ आदि प्रतिमायें या जघन्य प्रतिमायें तो हो सकती हैं, शुद्ध खाद्यपेय तो अब भी भारत में प्राप्त है, आटा घर में अपनी सहधर्मिणी से पिसवाओ या आप पीस लो, कुआँ, नदी, तालाब आदि जलाशयों का पानी लाओ या निरामिष भोजी, मद्यपानादि न करने वाले सदाचारी पुरुषों से मंगालो, दूध स्वयं अपने सामने में निकलवा लाओ और अन्दर मर्याद के गरम करलो, घी ग्रामों में श्रावकों के घर का मिल सकता है सो मंगा रक्खो, दाल चांवल शुद्ध हैं ही, ममाला ताजा पीसकर डालो, दिन में बनाओ और दिन में खाओ ? भोजनालय में चदेवा बांध लो, हवादार प्रकाशवाला रसोई घर रक्खो, बस ! शुद्ध हो गया, सदाचार से रहो, अपनी प्रमाणिकता का सिक्का लोगों पर बैठा दो इत्यादि, यह तो कर सकते हैं । इसलिए अच्छा हो कि पण्डितगण स्वयं सुधरें और उनकी जो समाज में समालोचक चर्चा हो रही है, यथा दिया तले अँधेरा होता है, ये तो पुराण

के भटा (बैंगन) त्यागने योग्य है न कि खाने के, हाथी के दांत दिखाने के और, खाने के और होते हैं, "परोपदेशे पाण्डित्यं, पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं नर न घनेरे। बात करन भूषण धरन करन खड्ग पग धार। कथनी कर करनी करें ते बिरले संसार॥ कथनी को मन शूरमा कथनी को काचा। कथनी कर करनी करे आनन सो सांचा॥ पण्डित और मशालची इनकी उलटी राह। औरों को तो गैल बतावें आप अँधेरे जाह॥" इत्यादि सो दूर करके बता देवें कि वास्तव में ये कहावतें विद्वानों पर लागू नहीं होतीं, पण्डितजन तो पण्डित ही होते हैं, वे जैसा कहना जानते हैं वैसे ही उनका करना भी आता है। उनका कथन पहिले उनके लिये है, पीछे औरों के लिए है उनका ज्ञान, उनके सच्चरित्रवृद्धि के अर्थ है, उससे और कोई मुमुक्षु लाभ उठावे या न उठावे, परन्तु वे तो उठावेंगे ही इत्यादि। अपने आचरणों से दिखावें। जब विद्वान् पण्डित धर्मोपदेशक आदर्श होंगे, तो उनका उनकी शिष्य मण्डली पर और श्रोताओं पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। इसलिये, जैसे आदर्श माता पिता अपनी सन्तान के सन्मुख कोई ऐसा काम नहीं करता, जिसका अनुकरण करके बालक कुमार्ग में चलने लगें। इसी प्रकार, किन्तु उससे भी अधिक आदर्श गुरु का शिष्यों पर पड़ता है, गुरु चोर व्यभिचारी अभक्षभक्षी है, तो शिष्य उससे भी अधिक होंगे और गुरु सदाचारी प्रमाणिक है तो शिष्य भी वैसे ही बनने का प्रयत्न करेंगे। इसलिए पण्डितों को अपनी जिम्मेदारी समझना चाहिए, अन्यथा समाज को हस्तक्षेप करना पड़ेगा और करना भी चाहिए, इसलिए समाज का कार्य है कि वह केवल कागजी घोड़े सवारों तीर्थ आदि परीक्षोत्तीर्णता का सार्टिफिकेट प्राप्त) को ही न देखें, किन्तु सच्चरित्रता पर भी विशेष ध्यान देवें, असदाचारी, दर्पोद्विया, अभक्ष और अमर्यादित अनुपसेव्य पदार्थ खाने वाले लोगों को जब तक वे अपना अभ्यास

नहीं सुधारते, आश्रय न देवें। उनको अपने बालक बालिकाएं न सौंपें, इतना ही नहीं उनको शुद्ध खान-पान आदि के लिए प्रेरित करें, मात्र बातूनी लोगों को आश्रय देना चरित्र को घात करने वाला है।

जैसे विद्वानों के लिये यह बात है वैसे ही छात्रों (विद्यार्थियों) के लिये भी है भले वे अभी बालक हैं, परन्तु वे ही हमारी समाज के भावी अध्यापक धर्मोपदेशक त्यागी संयमी हैं उनके संस्कार यहीं से पड़ते हैं, जो जीवन पर्यन्त नहीं छूटते इसलिए उनको अपने बाल्यकाल विद्यार्थी जीवन] से ही सत्य बोलने, शिष्टाचार पालने, गुणीजनों का आदर करने, स्वावलंबन अचौर्यता, ब्रह्मचर्य, निर्लोभता, उदारता, सादगी, विनय सरलता, निर्भीकता, धीरता, वीरता, साहस, संयम, इन्द्रियदमन, सहनशीलता, गौरवरक्षा, धार्मिक श्रद्धा, ज्ञान, क्रिया आचरण आदि सद्गुणों का अभ्यास अपने परीक्ष्य विषयों के साथ २ करते रहना चाहिए। विद्यार्थियों को सादा भोजन सादा वस्त्र, पुस्तक और अध्यापकों की ही आवश्यकता है, जिसका कि प्रबन्ध प्रत्येक विद्यालय, ब्रह्मचर्याश्रम आदि संस्थाओं में है ही, परीक्षा के समय परीक्षालय की फीस व मार्ग व्यय भी संस्थायें करती हैं, फिर विद्यार्थियों को नकद रुपयों की किसलिये जरूरत पड़ती है? यह विचारणीय है, बहुत से विद्यालय भोजनादि के अतिरिक्त छात्रों को मासिक (। ॥) १) आदि छात्र वृत्तियां भी देते हैं जो सर्वथा अनुचित है, वे बालक उस नकद रकम का क्या सदुपयोग करते हैं? सो तो संस्था संचालक खूब जानते हैं, परन्तु बालक नाराज होकर भाग न जांय, इसी डर से वे आंख मिचौनी करते हैं, परन्तु इससे बालकों का जीवन और समाज का भविष्य खतरे (जोखम) में पड़ जाता है हमारे विद्यालयों के भावी धार्मिक पण्डित छात्र भी अब पाश्चात्य विद्याऽभ्यासी छात्रों की नकल उनके खानपान रहन सहन पोशाक लिबास फैसन आदि में करने लगे हैं,

परन्तु उनकी कोई अच्छी बातें तो नहीं सीखते उनके जैसे बाल रखना, टोपी कोट कमीज पतली धोती पहिनना बूट, चट्टी धारण करना, खोमचा आदि से चलते फिरते खाना, अभक्ष्य खाना होटलों में खाना अधिक धुलाई दे देकर धुले किए हुए कलफदार कपड़े पहिनना, नेक-टाई कालर लगाना, चश्मा चढ़ाना, रिस्टवाच पहिनना, तेल, साबुन लगाना आदि सभी बातें विद्यालयों के छात्रों में देखी जाती हैं और खूबी यह कि समाज के पैसे से, विद्यालय में अनपेड़ दाखिल होते हैं और फिर धीरे २ समाज के श्रीमान् उदार जनों का परिचय पाकर दीनता के पत्र लिख लिखकर गरीबी दिखा दिखाकर पैसा मंगा लेते हैं और उससे मौज शौक उड़ाते हैं "मुफ्ती माल दिली बेरहम" यह चरितार्थ करते हैं, आपस में पार्टियां बनाते हैं हड़ताल पाड़ते हैं, झूठी शिकायतें कभी खाने की कभी पहिरने की इत्यादि इधर उधर करते और अपने स्वच्छन्दी व्यवहार के विरोधी गृहपति अध्यापकादि का विरोध करते, उन्हें बदनाम करते नीचा दिखाने की या निकलवाने की चेष्टा करते हैं, न चलने पर या दबाव पड़ने पर झट से भाग जाते और अन्य विद्यालयादि संस्थाओं में दाखिल हो जाते हैं, जिस पूर्व संस्थाने उनको पढ़ाया लिखाया, भरण पोषण करके योग्य बनाया उसके साथ कृतघ्नता करते हैं, द्रोह करते हैं, इनमें यहीं से स्वार्थवृत्ति, विषय लोलुपता ईर्षा, डाह, द्वेष, क्रोध मिथ्याभिमान, लोभ आदि दुर्गुण भर जाते हैं जिससे विद्यादेवी की उपासना में पीछे पड़ जाते हैं और किसी तरह खींच तान के पास तो हो जाते हैं, परन्तु आता जाता कुछ नहीं, एक न्याय विशारद से रत्नकरंड के श्लोक पूछे, द्रव्य संग्रह की गाथा का अर्थ पूछा, छहढाला के कुछ सामान्य प्रश्न किए, परन्तु उत्तर में मौन मिला, परन्तु विशारद जी के माथे पर बालों का खासा 'गुच्छा था।

तात्पर्य-ये हमारे भावी धर्मोपदेशक अध्यापक धर्मशिक्षक, जिस प्रकार तैयार हो रहे हैं उनसे धर्मोन्नति या समाज तथा देश सेवा की भावना करना, नीम के झाड़ से आम खाने की आशा के सदृश है, क्योंकि इन हमारे छात्रों में, न विनय है, न उत्साह है, न साहस है, न आत्मीक या शारीरिक बल है, न विद्याबुद्धि का बल है, न इनको उद्योग करना आता है, बोलने की चतुराई तक भी नहीं है, परीक्षाएँ पास करके नौकरी की तलाश में मारे २ फिरते हैं, यदि नौकरी मिल गई तो वहां या तो ये ठहर नहीं सकते, या पृथक् कर दिए जाते हैं, भाग्य से कोई तीक्ष्ण बुद्धि पंडित ने कहीं कुछ पाठशाला आदि में कुछ काम ठीक २ चलाया भी तो थोड़े दिनों में यत्र तत्र लिखा पढ़ी करके भाग जायंगे और बनी बनाई पाठशाला बिगड़ जायगी, इसका इनको कुछ भी दु:ख नहीं, न ये इसमें अपनी जिम्मेदारी समझते हैं कहा तक कहें? इन भावी कर्णधारों की विचित्र ही दशा है। समाज को चाहिए, कि विद्यार्थी वर्गों का सुधार करे, प्रारम्भ से ही उनमें अच्छे संस्कार भरे धार्मिक भाव भरे क्रियाकांड सिखावें, उनमें बल पुरुषार्थ साहस उत्साह सेवा विनय चतुराई आदि गुणों का विकाश जैसे होवे वैसा यत्न करे।

जो उदार सज्जन विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां देते हैं, उनका कर्तव्य है कि छात्र की अर्जी आने पर यदि उनके यहां छात्रवृत्ति खाली है, या वे सहायता देना चाहते हैं तो वे जिस संस्था में वह बालक रहता है, पढ़ता है, यथा बोर्डिंग, विद्यालय, गुरुकुल आदि उसके संचालक सुपरिन्टेन्डेन्ट, मन्त्री, सभापति, मुख्याऽध्यापक, प्रिन्सिपल आदि से उसकी व्यवस्था, पढ़ाई व परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करके ही उचित समझें, तो सहायता देवें, अन्यथा दूसरे सुयोग्य छात्रों को देवें ऐसा न हो कि सुयोग्य छात्रों के मुख का ग्रास चालाक

अयोग्य छात्रों को पहुंच जावे और बिचारे होनहार सुयोग्य छात्र द्रव्याभाव या सहायता के अभाव में विद्या विहीन रह जावें।

प्रायः देखा जाता है, कि अनेक छात्र अमुक २ संस्थाओं में अपनी गरीबी बताकर अनपढ़े दाखिल होजाते हैं और फिर पुस्तक, फी कपड़े आदि नाना प्रकार के बहानों से एक एक छात्र अनेकों जगह से छात्र वृत्तियां प्राप्त कर लेता है और फिर उनसे मौज शौक उड़ाता है, कतिपय चतुर चालाक छात्र, तो छात्रावस्था में इतना मासिक प्राप्त करके खर्च करते है, कि वे उतना क्या उससे पौना आधा भी विद्यार्थी जीवन के बाद पैदा नहीं कर सकते और बिचारे बहुत से बिना मदद के पढ़ना छोड़ बैठते हैं। ये छात्र अपने दातारों से सीधा मनीआर्डर मंगाते हैं, कभी २ नगर निवासी अमुक जनों के पते से मंगाते हैं जिससे संस्था के संचालकों को पता न लगे, ये दातारों को लिख देते हैं, साहिब कृपया हमारे गृहपति या अधिष्ठाता व मन्त्री आदि को मालूम न होने देवें, अन्यथा वे संस्था में जमा कर लेंगे, मुझे कुछ न मिलेगा, गृहपति मुझसे नाराज रहते हैं, मैं उनका निजी काम नहीं करता हूं, इसीसे वे नाराज रहते हैं इत्यादि बातें बनाकर मतलब साध लेते हैं, ऐसी दशा में दातारों का कर्तव्य है कि वे छात्रवृत्तियां तथा अन्यान्य प्रकार से विद्यार्थियों और संस्थाओं को सहायता तो अवश्य देवें, परन्तु विवेक पूर्वक खूब छान-बीन करके संस्थासंचालकों के द्वारा ही देवें, संस्थासंचालकों की शिफारिस के सिवाय न देवें, क्योंकि जितनी खास सामाजिक संस्थायें विद्यालय, गुरुकुल, आश्रम आदि हैं उनमें तो छात्रों को भोजन वस्त्र पुस्तकादि प्रायः सभी खर्च संस्थाओं से ही होता है, हजामत व वस्त्रादि धोने का भी खर्च संस्थायें करती हैं, तब उनको और किस खर्च की जरूरत रहती है कि जिसके लिए यांचना भिक्षावृत्ति करनी पड़ती है, इसके सिवाय यदि

अच्छे नम्बरों में उत्तीर्ण हो जाते हैं, तो परीक्षालयों से व संस्थाओं से पारितोषिक भी मिलता है, जो उनके विशेष साहित्य संग्रह में उपयोगी हो सकता है, इसके सिवाय माता पिता का भी तो कर्तव्य है, कि संस्थाएँ और समाज जब उनके बालकों का सब खर्च उठाती हैं, तो वे अपने ही आत्मजों को शक्ति अनुसार वस्त्र या पुस्तकादि में चार आना से लेकर ऊपर जितनी उनकी शक्ति हो, उसे, धर्म की दुहाईपूर्वक न छिपाकर सहायता करें, वे जब उनके लग्नादि में सैकड़ों हजारों खर्च कर सकते हैं, नुकते आदि मौसरों में लगा सकते हैं, तब अपने बालकों की पढ़ाई में क्यों नहीं लगा सकते ? क्यों वे समाज को धोखा देते हैं ? सार्वजनिक रुपया खींचने की जघन्य भावनाएं रखते हैं ? अपने बालकों में दीनता, याचना, भीरुता, छल आदि दुर्गुण बढ़ने का अवसर क्यों देते हैं ? सभी माता पिता, सर्वथा, असमर्थ नहीं होते, न सभी बालक अनाथ होते हैं और जो वास्तव में असमर्थ या अनाथ हैं, परन्तु होनहार बालक हैं तो उनका पूरा पूरा खर्च संस्था को ही करना चाहिए, ताकि बालकों में याचनादि दोष न आने पावें, वे दीन कायर न बनें, यह स्मरण रहे कि "जब तक बालक स्वपुरुषार्थ से कमाना नहीं जानता और वह विद्यार्थी है, तो उसके भोजन वस्त्र, पुस्तकों फी आदि जरूरी कार्यों को सुयोग्य व्यवस्था करना चाहिए, परन्तु नक़द पैसा रुपया कभी न देना चाहिए, क्योंकि वे नहीं जानते रुपया कैसे आता है, इसकी क्या कीमत है ? इसलिए बिना परिश्रम के कमाया हुआ (भले ही घर का हो या समाज व संस्थाओं का) रुपया अनावश्यक रीत्या उड़ा देंगे, इतना ही नहीं, किन्तु भय है कि कहीं इस रुपये से वे किसी व्यसनादि में न फँस जावें, नाटक सिनेमा देखते २ इधर उधर भी देखने लग जावें, इसलिए नक़द रुपया उनको खर्च के लिए देना ही नहीं, परन्तु उनकी आव-

श्यकताओं की पूर्ति अवश्य कर देना चाहिए, जिससे उनको विद्या की प्राप्ति में कष्ट भी न हो, वे निर्विघ्नतया निश्चित होकर पढ़ें और व्यसनादि से बचे रहें"।

उदार दानी समाज का इस बात पर ध्यान रहना जरूरी है, उनको मात्र बालक के दीनताभरे पत्रों पर ही करुणा न आना चाहिए, किन्तु विवेकपूर्ण करुणा होना और खोज करके ही छात्र वृत्तियां देना चाहिए और संस्थाओं के मुख्य संचालकों द्वारा, छात्र-वृत्ति पाने वाले छात्रों से मासिक हिसाब भी प्राप्त करना चाहिए, उस हिसाब पर संस्थाओं के मु० मना० के हस्ताक्षर देखना चाहिए और जो खर्च हुआ है उसके औचित्यानौचित्य पर विचार करना चाहिए, तथा जिस बाबत संदेह हो उसका खुलासा पूछना चाहिए, यदि खुलासा ठीक न हो तो छात्रवृत्ति उसकी बंद कर दूसरे छात्र को देना चाहिए, उचित अनुचित यों विचारा जा सकता है, कि साधारणरीत्या, कपड़े की धुलाई देशी धोबी को)। या)॥ फी कपड़ा देनी पड़ती है, परन्तु उन्हीं कपड़ों को कम्पनी में धुलाने से अधिक धुलाई लगती है, साधारण हजामत ‐) में होती है, परन्तु हेयर कटिंग सेलून में बाल कटाने का चार्ज बहुत अधिक लगता है, सिलाई का भी यही हाल है सामान्य दूकानदार दर्जी कम पैसे में सीं सकता है, परन्तु कम्पनी (टेलर) में अधिक चार्ज किया जाता है, देशी खद्दर बहुत दिन चलने वाला, परन्तु सादा होता है, परन्तु विदेशी कपड़ा चमकदार साफ कम चलने वाला होता है, शरीर रक्षा दोनों से होती है, इत्यादि बातें ऐसी हैं कि जिनके जांच करने की खास जरूरत है, ऐसा अनावश्यक खर्च या मौज शौक, जब चाहे, छात्र कर सकता है, जब आवश्यकता से अधिक द्रव्य उसको एक या अनेकों जगह से प्राप्त होता है।

प्राय: बहुत से विद्यार्थी अनेकों स्थानों से छात्रवृत्ति प्राप्त कर लेते हैं और जिसकी खबर छात्रवृत्ति देने वाले सज्जनों को मालूम नहीं पड़ती, छात्र तो उनको प्रकट नहीं करते और वे (दातार) पूछते नहीं हैं, इस प्रकार से द्रव्य का दुरुपयोग तो होता ही है, साथ ही बालकों में फैशन आदि दुर्गुण बढ़ जाते हैं, वे फिजूलखर्ची हो जाते हैं, और उनके भावी जीवन के दुखद या पापमय हो जाने की संभावना हो जाती है। इसलिए छात्रवृत्ति देते समय यह भी जान लेना चाहिए, कि छात्रवृत्ति मांगने वाला छात्र अन्य स्थानों से भी छात्रवृत्ति लेता है क्या? और ऐसी शर्त भी कर लेना जरूरी है, कि यदि हमको पीछे यह विदित हो जायगा, कि और स्थान से भी छात्रवृत्ति लेता है तो हम आगामी कालमें तो छात्रवृत्ति बंद करही देंगे, परन्तु पिछली दी हुई छात्रवृत्ति भी तुमसे बाकायदे वापिस ले लेंगे, इत्यादि। मैंने यहां विशेषकर प्राईवेट सस्थाओं के, संस्कृत तथा धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों पर ही विशेष लक्ष्य करके लिखा है, परन्तु उससे, पाश्चात्यविद्याऽभ्यासी या उद्योग हुनर सीखने वाले छात्र बच नहीं जाते, वे चाहे बोर्डिंगों (जैन छात्रालयों) में रहते हों या उससे बाहर, परन्तु वे तो इस विषय में निपुण और पालिसीबाज (चतुर) होते हैं, इसलिए वे तो बहुत अधिक और अधिक स्थानों से बड़ी युक्ति से राजी करके छात्रवृत्ति या सहायता प्राप्त कर लेते हैं और इनसे अधिक अनावश्यक खर्च करते हैं, इस पर धर्मशिक्षा लेने से या तो कतई इन्कार ही कर देते हैं या बेगार समझ कर केवल इसलिए लेते हैं कि छात्राश्रम का नियम है, उसको पालन करना ही पड़ेगा। अन्यथा यहां रह नहीं सकेंगे इत्यादि। अभी हाल का ही एक दृष्टांत है—दो विद्यार्थी एक बोर्डिङ्ग में तीन मास से रहते थे, वे स्वखर्च से रहते और अपना भोजन आपही बनाकर जीमते थे, किन्तु बोर्डिङ्ग

अधिकारियों ने उनको रहने का मकान इस शर्त पर दिया था, कि वे नियमानुसार धर्म शिक्षा लेते रहें, इसलिए गृहपति ने उनसे कहा कि आप लोग धर्मक्लास अटेन्ड कीजिए, ऐसा कहकर धर्म पुस्तक भी मंगादी, तो वे बोले, कि हमको इतना टाइम (समय) नहीं है, गृहपति ने कहा—अच्छा एक सप्ताह में केवल तीन दिन आधा आधा घण्टा ही धार्मिक व्याख्यान सुन लिया करो। विद्यार्थी साहेब- कोशिश करेंगे, परन्तु आए नहीं। इस पर गृहपति ने कायदे के अनुसार उनको ताकीद की, तो वे धर्म पुस्तक पीछे देने को आए कि इसकी हमको जरूरत नहीं, हम बोर्डिङ्ग का स्थान खाली कर देंगे, और उसी दिन करीब दस रुपया मासिक का कोई मकान भाड़े पर लेकर अन्यत्र रहने लगे परन्तु धर्मशिक्षा लेना स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार एक विद्यार्थी, जिसने औद्योगिक शिक्षा इसी बोर्डिङ्ग से प्राप्त की थी, किन्तु प्रेक्टिकल कार्य सीखने किसी अन्य औद्योगिक कारखाने में जाता था, उन्होंने छः माह की छात्रवृत्ति [अमुक रकम में नकद] एक प्रसिद्ध संस्था से मंगवली थी, वे दो माह रहे, धर्मशिक्षा तो नहीं ली, परन्तु शेष छात्रवृत्ति जो अगाऊ प्राप्त करली थी, लेकर चले गये। ऐसे दृष्टान्त तो बहुत हैं, हुए हैं और सावधानी न रक्खी जावेगी, तो होते ही रहेंगे और उनके बदले बेचारे सज्जन होनहार तीक्ष्णबुद्धि, किन्तु आत्मगौरव रखने वाले विद्यार्थी विद्या व उद्योगशिक्षा-विहीन ही रहा करेंगे।

इसलिए समाज के हितैषी उदार पुरुषों को सहायता से हाथ नहीं खींचना चाहिये किन्तु सावधानी से विवेकपूर्वक और भी दूने उत्साह से विद्योन्नति में द्रव्य का दान करना चाहिये, इस प्रकार विद्यार्थियों के सुधारसम्बन्ध में कुछ कह कर अब संस्थाओं के सम्बन्ध में भी कुछ कहकर वक्तव्य पूरा करूंगा।

किसी भी प्रकार के विद्वान् हों, वे सब, किसी न किसी, छोटी बड़ी प्राइवेट, सार्वजनिक या राजकीय आदि संस्थाओं के द्वारा ही तैयार होते हैं, इसलिए इन होनहार समाज के भावी कर्णधार विद्वानों के विषय में संस्थाएं पूरी २ जवाबदार हैं। यदि उनसे निकलने वाले छात्र (विद्वान् सुयोग्य, सदाचारी, धर्मात्मा, समाज और देश के सेवक, होते हैं, तो वह संस्था उत्तमोत्तम गिनी जाने लायक होती है, परन्तु इसके विपरीत, जिस संस्था से स्वच्छ , फैसनेबल फिजूलखर्ची, स्वार्थी पढ़े लिखे निकलते हैं, वह संस्था निंद्य है, हेय है।

इसलिए संस्थाओं के विषय में विचार करना चाहिए, कि संस्था किसे कहते हैं ? क्या सुरम्य स्थान में सुन्दर मकान के अन्दर चतुराई से सजाये हुए फरनीचर आदि को संस्था कहते हैं ? या विद्यार्थी, शिक्षक, प्रबन्धक और संस्थापक आदि के समुदाय को कहते हैं ?

उत्तर—मकानादि तो जड़ वस्तुएँ हैं, उनका समुदाय संस्था नहीं हो सकता, किन्तु छात्र, अध्यापक, प्रबन्धक आदि का सुसङ्गठित समुदाय ही संस्था कही जा सकती है, वास्तव में प्रबन्धकों द्वारा समुचित प्रबन्ध होते हुए, सुयोग्य, सदाचारी, स्वावलम्बी, सादगीपसन्द, दयालु, सत्यवादी, प्रामाणिक, निर्लोभी, अध्यापकों द्वारा (जो अन्तरंग से छात्र हितैषी हों) जिज्ञासु सुशील छात्रों को, उनके भावी जीवन पर दृष्टि रखते हुए, इस लोक और परलोक सम्बन्धी उत्तम शिक्षा जहां से प्राप्त होती हो, उसे संस्था कहते हैं ? फिर ऐसी शिक्षा भले जंगल में, झाड़ों के नीचे या टूटी फूटी पर्णकुटियों में मिलती हो, तो भी वह संस्था सराहनीय है, परन्तु यदि कायरता, अविनय और कुशीलता की वर्द्धक शिक्षा, उत्तम महलों में भी मिलती हो तो वह संस्था कहलाने योग्य नहीं है।

खेद है, कि आजकल बड़े २ शिक्षाविशारद नाना प्रकार की नयी२ शिक्षा की स्कीमें बनाते हैं, जिनमें रुपया भी खर्च होता है, परन्तु फिर भी शिक्षा से कोसों दूर भागते जाते हैं, आज से २०-२५ वर्ष पहिले के मिडिल या मैट्रिक पास बालक, आज के बी० ए-एम० ए० आदि के छात्रों से कहीं अधिक लियाकत (योग्यता) रखते हैं, पुराने अपढ़ (थोड़ी शुद्ध या अशुद्ध हिन्दी लिख लेने या बांच लेने वाले, जिनको आजकल के नवयुवक शिक्षित ओल्डफूल (Old fool) कह कर सम्बोधन करते हैं) समस्त व्यावहारिक और व्यापारिक हिसाब आदि मिनटों में लगाते हैं, अपनी बुद्धिबल से हजारों लाखों का व्यापार करते हैं, परन्तु आजकल के ग्रेजुएट वे ही मामूली हिसाब घण्टों में कागज पेन्सिल की मदद से भी ठीक २ नहीं लगा सके। अपना व अपने कुटुम्बियों का उदरनिर्वाह करने तक को असमर्थ हैं. यही दशा संस्कृतविद्याऽभ्यासियों की है, पुराने थोड़े पढ़े लोग पदार्थ का स्वरूप जिस खूबी के साथ समझा सकते हैं, ग्रन्थों को लगा सकते हैं, उसे देख कर ये डिग्री प्राप्त तीर्थ आदि मुंह में उंगली दबाते हैं, इनको न पंक्ति का अर्थ लगाना आता है न भाव ही बैठा सकते हैं, फिर भी पण्डितपने के अभिमान में संसार को मूर्ख ही मान लेते हैं. जिस समाज की संस्थाओं से शिक्षा प्राप्त की है, उसी समाज की बुराई तो करते हैं, परन्तु उसकी सेवा करके बुराइयां दूर करने को कटिबद्ध नहीं होते दान करना तो ये दोनों प्रकार के विद्वान् जानते ही नहीं, ये लम्बी चौड़ी रिपोर्ट बनाकर अपील करना और दूसरों से दया या मान उत्पन्न कराकर पैसा बटोर लेते हैं, परन्तु आप कभी किसी अपील में कुछ भी देना नहीं चाहते, न देते ही हैं और न शरीर से ही कुछ समय बचाकर समाज की सेवा करते हैं। इसकी खातिरी संस्थाओं के दातारों की सूची निकालकर कर लेना चाहिए।

और ताजा दृष्टांत अभी जैन कालेज के आन्दोलन का ही देख लीजिए, कि जब मान्यवर न्यायाचार्य, पण्डितवर्य गणेशप्रसाद जी वर्णी ने इसका आन्दोलन उठाया तो उनके वयोवृद्ध अनन्यमित्र त्यागमूर्ति बाबा भागीरथजी वर्णी ने समर्थन किया और साथ देने को तत्पर होगये, मुझे भी उनकी आज्ञा और विचार स्वीकार थे, इसलिए मैं भी साथ हो लिया और भी दो चार त्यागी ब्रह्मचारियों ने वचन दिये, कार्य आरम्भ किया गया और दिल्ली आदि स्थानों से लगभग ५५००० रु० के वचन भी मिल गए, तब एक व्यवस्थित संयोजक कमेटी की आवश्यकता पड़ी कि जिसके दफ्तर से बाकायदे कार्यवाही होने लगे, इसके लिए ११ आदमियों की जरूरत थी, जो (१०००) एक एक हजार रुपया देकर उसके सदस्य बने व रकम से कार्य आरम्भ, दफ्तर खर्च और दौरा खर्च आदि चले, परन्तु मात्र २-३ सज्जनों के सिवाय बहुतों ने तो उत्तर तक देने की कृपा नहीं की और कुछ सज्जनों ने रकम देकर सदस्य होने से इन्कार कर दिया, किसी ने तो मात्र स्कीम बना देने या सम्मति देना स्वीकार किया, किसी ने कालेज खुल जाने पर आनरेरी अध्यापक होना स्वीकार किया, तब शारीरिक श्रम पर बात आई कि चन्दे के डेपूटेशन में ग्रामोग्राम व नगरोनगर कम से कम वे सज्जन कि जिनको घर खर्च चलाने या नौकरी की चिन्ता नहीं है, आवें और अमुक रकम भराने के बाद वसूली करके कार्य आरम्भ किया जाय तो भी किसी सज्जन विद्वान् ने कृपा नहीं की। उक्त त्यागीगण गर्मी जाड़े पानी में लगभग १ साल स्ववचनानुसार फिर फिराकर बीमार पड़ गए और कार्य जहां का तहां रहा, सब श्रम और पुकार अरण्यरोदनवत व्यर्थ गई। यदि विद्वान् लोग इस कार्य को हाथ में ले लेते और तन धन से यथाशक्ति मदद करते तो क्या एक जैन कालेज हो जाना कठिन था? परन्तु ऐसा क्यों हुआ! विद्वानों

में त्यागभाव, संयमभाव, सहिष्णुता, धीर वीरता आदि भाव क्यों नहीं उत्पन्न होते ? इसका कारण विचारने से यही निकलता है कि इनकी शिक्षा जिस ढंग से हुई व हो रही है या जिन संस्थाओं से ये तैयार होते हैं, उन संस्थाओं के ढंग ऐसे विचित्र हैं कि उनके संचालकगण अपनी किसी प्रकार की जिम्मेदारी ही, इन होनहार भावी विद्वानों के विषय में नहीं समझते, पुस्तकीय पाठ पढ़ाकर परीक्षा दिला देना, उनका मात्र कर्तव्य रह गया है, विश्वविद्यालयों और परीक्षालयों ने, पठनक्रम बना देना, परीक्षा ले लेना, उत्तीर्णताप्राप्त विद्वानों को प्रमाण-पत्र, डिग्री, डिप्लोमा आदि दे देना मात्र कर्तव्य समझा है ? क्या कोई विश्वविद्यालय (परीक्षालय) कालेज (महा-विद्यालय) हाई स्कूल (विद्यालय) स्कूल (पाठशालाएँ) बोर्डिंग (छात्रालय) अनाथालय, ब्रह्मचर्याश्रम, (गुरुकुल) कन्या विद्यालय, महिलाश्रम आदि साहस के साथ यह उत्तरदायित्व लेने को तैयार हैं ? कि हमारे यहाँ से निकले हुए छात्र-छात्राएं आदि विद्वान् सुयोग्य सदाचारी प्रामाणिक ही होते या होंगे, उनके द्वारा कभी देश समाज तथा धर्म पर कलङ्क न आवेगा, वे स्वावलम्बी, वीर दुःखसहिष्णु, साहसी, बलवान देश–धर्म और समाज के निःस्वार्थ सेवक ही होंगे ? कोई नहीं, क्योंकि उनके यहाँ ऐसी आदर्श शिक्षा और शिक्षकों का प्रबन्ध नहीं है, और शिक्षा का खर्च इतना अधिक बढ़ता जाता है, कि गरीब और साधारण स्थिति के बालक तो होनहार होते हुए भी द्रव्याभाव से शिक्षा नहीं ले सकते और श्रीमानों के बालक या इधर उधर से मांग-मूंग कर कठिनाई से प्रबन्ध करके पढ़ने वाले बालक, किसी प्रकार शिक्षा लेते हैं, सो किताबें, फी आदि के अतिरिक्त, गेम फी, क्लब फी, वस्त्र, भोजन, सिलाई, धुलाई, हजामत आदि में इनका इतना मासिक खर्च हो जाता है कि परीक्षोत्तीर्ण होने पर फिर

कमा भी नहीं सकते, साथ ही आराम तलब व फैशनेबुल, इतने हो जाते हैं, कि इनसे थोड़ा भी वजन नहीं उठता, छोटा मोटा परिश्रमी काम नहीं हो सकता और बेकारी बढ़ती चली जाती है, कम खर्च से निर्वाह नहीं होता, इच्छानुसार प्राप्ति नहीं होती, तब लाचार हो यदि शर्मदार हुए तो आत्म-घात का सहारा लेते हैं या फिर कोई ऐसा कलंक लगाने वाला कार्य कर बैठते हैं । कुछ योग्य बुद्धिमान् अच्छे घराने के (कुलीन) होते हैं, वे आजीविका भी योग्य प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु उनका द्रव्य, मात्र ऐशोआराम में ही लगता है, धर्म समाज व देश के अर्थ उनके पास देने को न द्रव्य है न समय है। "सौ में सती, लाख में जती" के अनुसार सौभाग्य से कोई धार्मिक उदार दानी, संयमी, धर्म देश समाज के सच्चे हितैषी सेवक भी निकल आते हैं, परन्तु वे बहुत कम (नगण्य) जानना चाहिए, सो उनका श्रेय संस्थाओं को नहीं है, न अध्यापकों को ही है, किन्तु उनके कुलीनपने को है, या समय २ पर होने वाली घटनाओं के, उनके हृदय पर पड़े हुए, विशेष प्रभाव का है, जो वे निराशा में आशा रूप निकल आते हैं ।

इसलिये संस्थाओं को अपना सुधार करना चाहिए, आजकल शिक्षासुधार सम्बन्धी बड़ी २ चर्चाएँ होती हैं, पत्र पत्रिकाएँ निकलती हैं, विश्वविद्यालयों में भी बड़ी २ सभाएँ (सीनेट सिंडीकेट) वगैरः भरती हैं, उनमें प्रायः देशी विद्वान् ही अधिक संख्या में रहते हैं, दिनोंदिन सुधार सम्बन्धी स्कीमें सोची जाती हैं, शिक्षा के नाम पर लाखों रुपया खर्च भी किए जाते हैं फिर भी शिक्षा की अधोगति ही होती जाती है, आज से २५ वर्ष पहिले, मामूली एंग्लोवर्नाक्यूलर अपर प्रायमरी पास बालक जितनी योग्यता, मात्र २-३ वर्ष में प्राप्त कर लेता था । खेद है, कि आज इतना सुधार हो जाने पर भी उतनी

योग्यता बालक में मिडिल पास कर लेने पर भी नहीं हो पाती, उस समय का मेट्रिकुलेशन या नॉन मेट्रिक्युलेशन आज कल के ग्रेजुएट की अपेक्षा कहीं अधिक योग्यता रखता था, इस में बात यह थी, कि पठनक्रम (कोर्स) का भार तो कम था और फीस वगैरः भी थोड़ी थी, रहन सहन सादा था, आवश्यक विषयों पर शिक्षकों का अधिक लक्ष्य रहता था, कोर्स (पठनक्रम) भी बहुत वर्षों तक एकसा रहता था, इसलिए अध्यापक और विद्यार्थी को हितकारी पड़ता था, अध्यापक लोग उन ग्रन्थों का खूब मनन कर सकते थे नए विद्यार्थी पुराने विद्यार्थियों से सहायता प्राप्त कर सकते थे इसके सिवाय पुराने विद्यार्थियों की पठित पुस्तकें भी सस्ते दाम पर या मुफ्त में नये विद्यार्थियों को मिल जाती थीं, इस प्रकार की पढ़ाई होने से विद्यार्थियों को पढ़ने और मनन करने का सुअवसर प्राप्त हो जाता था, परन्तु आजकल नया नया कोर्स बदलता रहता है और कोर्स में भी इतनी अधिक पुस्तकें होती हैं, कि विद्यार्थियों का दिमाग चक्कर खा जाता है और प्रतिवर्ष लाखों रुपयों की पुस्तकें बदल जाने से वह रुपया बेकार तो जाता ही है, परन्तु साथ ही प्रथम वर्ष के अनुत्तीर्ण विद्यार्थी को द्वितीय वर्ष में उसी कक्षा की परीक्षा देने के लिए सभी पुस्तकें नयी ही पढ़नी पड़ती हैं, इसलिए वह अपने पठित ग्रन्थों को पुनः दुहरा नहीं सकता, अपने कच्चे रहे हुए विषयों को पक्के नहीं कर सकता और नये नये कोर्स का भार ऊपर आ पड़ता है, साथ ही और भी अनेकों प्रकार के खर्च बालकों के संरक्षकों के ऊपर आपड़ते हैं, जिनसे घबरा कर या तो बालक स्वयं ही अधकचरी शिक्षा पाकर घर बैठ रहता है या माता-पितादि संरक्षक उसे घर बैठा लेते हैं। खेद तो यह है, कि इस बेकारी के जमाने में शिक्षा का खर्च बढ़ता ही जाता है, वह महंगी होती जाती है और फिर भी बालकों को सत्त्व-हीन कायर परमुखापेक्षी

बना देती है. एक मामूली सी जगह नौकरी की खाली होने पर सैकड़ों पढ़े लिखों की अर्जियां आजाती हैं उन पर अच्छे २ लोगों की शिफारिस भी हो रही है. परन्तु वे वर्तमान के शिक्षित विद्वान् कोई भी शारीरिक परिश्रम या मजूरी का कार्य करना नहीं चाहते या यों समझना चाहिए, कि इनसे परिश्रम होता ही नहीं है, इनकी शिक्षा ने इनको इतना निर्बल और मिथ्यालज्जालु बना रक्खा है. कि ये कुछ भी परिश्रमकार्य नहीं कर सकते और तो क्या रेलवे या मोटर स्टेशनों पर ये लोग अपना बिस्तर वगैरः मामूली सामान भी चढ़ा या उतार नहीं सकते, इनको इसके लिये कुली की जरूरत पड़ती है, खाने से कई गुणा, ऊपरी कपड़े, हजामत आदि फैशन का खर्च बढ़ा हुआ रहता है. डाक्टरों के बिल हमेशा चढ़े रहते हैं, परन्तु क्या शिक्षा संस्थाएं कभी भी इन बातों पर विचार करती हैं ? क्या उन्होंने अपने छात्रों पर इस बात का असर डालने का कोई उपाय काम में लिया है, कि उनके बालकों पर यह फैशन का भूत सवार न होने पावे, वे स्वदेशी वस्त्र, स्वदेशी लिबास ही पहिरें, वे शरीर से दृढ़ बनें, स्वावलम्बी बनें, झूठी लज्जा को छोड़ कर स्वात्मगौरव वाले, स्वदेश गौरव वाले बनें, नौकरी (गुलामी) की अपेक्षा मेहनत मजूरी को श्रेयस्कर समझें, अपने बड़ों व गुरुजनों का सत्कार या विनय करना सीखें, अपनी विद्या और बुद्धि का सदुपयोग, अपने तथा अपने धर्म समाज और देश के लिये करने के लिये कटिबद्ध रहें इत्यादि । उत्तर मिलता है, नहीं । क्यों कि वे अपना उत्तरदायित्व ही इन विषयों में नहीं समझते हैं अध्यापकगण अपने विषय के लेक्चर दे देना मात्र या पढ़ादेना मात्र ही अपना कर्तव्य समझते हैं, वे इन व्यावहारिक जीवनोपयोगी विषयों की ओर तो कभी फूटी आंख से नहीं देखते, इतना ही नहीं, किन्तु वे इन बातों को वाहियात (बेवकूफी) की बातें समझते

हैं, क्योंकि वे भी तो इसी प्रकार से ऐसे ही वातावरण में शिक्षित हुए हैं, वे भी तो फैशन के भूत से प्रभावित हैं विनय या देश धर्म जाति सेवा से कोसों दूर हैं, अपने ऐशो-आराम में ही मग्न हैं भारत के एक प्रसिद्ध नगर के सरकारी कालेज में १ जैन प्रोफेसर D. Sc. (डाक्टर ऑफ साइन्स) हैं, वहां के स्थानीय जैन छात्राश्रम के कुछ छात्र उनसे बंगले पर मिलने गए, तो आपने कह दिया कि मैं धार्मिक या सामाजिक विषय में कुछ भी बात करना नहीं चाहता, बस ! वे विद्यार्थी वहां से बैरंग लौट आए, ये ही प्रोफेसर सा० मोटर में बैठाकर अपने पिता को बोर्डिङ्ग के दि० जैन चैत्यालय में दर्शन कराने ले गए, सो इनके पिता जी, मोटर से उतर कर दर्शन कर आए, परन्तु आपने मोटर से उतरने व दर्शन करने का कष्ट न उठाया और यों ही पिता को लेकर वापिस बंगले पर चले गए, भला जब अध्यापकों का यह हाल है, तो विद्यार्थियों को उन से कुछ कदम आगे होना ही चाहिए। यह तो हुई राजकीय पाश्चात्यशिक्षाप्रदायक संस्थाओं की बात ?

अब जरा प्राइवेट, देशी और सामाजिक संस्थाओं पर भी दृष्टि डालिए तो वहां भी विलक्षणता नजर आयगी, सबसे पहिले हम बोर्डिङ्गों (छात्रालयों) पर ही दृष्टि डालते हैं, इन बोर्डिङ्गहाउसों या होस्टलों का उद्देश यह था, कि इस वर्तमान समय में पाश्चात्य (इङ्गलिश) विद्या का पढ़ना पढ़ाना तो अनिवार्य होगया है, इसलिए इस से तो किसी को रोका नहीं जा सक्ता और न रोकना उचित ही है, इसलिए, इन कालेजों और स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए ऐसे छात्राश्रमों की योजना कर देना चाहिए कि जिस से पाश्चात्यविद्याऽभ्यासी बालक पाश्चात्यशिक्षा तो ले सकें, परन्तु उनकी संस्कृति भारतीय ही बनी रहे, वे धार्मिक शिक्षा, क्रिया और आचरणों से वंचित न रह सकें, वे सदाचारी, सुशील,

तथा स्वावलंबी बने रहें और अपने उच्च ध्येय (धर्म समाज और देश सेवा) को लिए हुए, अपने को इसके योग्य बनावें, परस्पर प्रेम से रहें, कम खर्च करके उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकें, इत्यादि उनका उद्देश था, जो नियमावली में प्रायः छपा भी रहता है, परन्तु जब इन छात्रालयों की प्रणाली (जो चलरही है,) पर दृष्टि डालते हैं, तो प्रायः इस उद्देश्य के विपरीत ही मामला नजर आता है बालकों की फैशन किसी तरह भी कम नहीं होती, खर्च भी उनके घटते नहीं हैं, धार्मिक क्रियाएं भी नहीं सुधरतीं, धर्मशिक्षा लेना तो बेकार ही समझा जाता है, रात्रि में भोजन करना, अभक्ष्य खाना आदि बातों पर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता, अधिकारीवर्ग छात्रों से डरता ही रहता है और उनके विपरीत आचरणों की उल्टी पुष्टि कर देता है। एक सब से पुराने बोर्डिङ्ग में १ कालेज का छात्र अपने कमरे में टेबिल, कुर्सी पर जूते आदि पहिरे हुए रात्रि को लगभग ९ बजे खाना खा रहा था, वहां सुपरिन्टेन्डेन्ट बोर्डिङ्ग चला गया और बोर्डिङ्ग के नियम विरुद्ध उसको रात्रि में खाने के लिए मना किया। इस पर उस छात्र ने सुपरि० को यह कहते हुए धक्का देकर अपने कमरे से बाहर निकाल दिया, कि तुम विदाउट माय परमिशन (बिना मेरी आज्ञा) के मेरे रूम में क्यों आए? गो आउट (निकल जाओ) इस पर सुपरि० ने बोर्डिङ्ग अधिकारियों को रिपोर्ट की, परन्तु बोर्डिङ्ग अधिकारियों ने उल्टी सुपरि० की ही भूल बताई, उसे ही डाटा और छात्र को कुछ भी न कहा, किन्तु छात्र के अनुचित कार्य का अनुमोदन कर दिया, इस प्रकार सुपरि० अपना सा मुंह लिए रह गया और नौकरी से भी वंचित कर दिया गया। एक बोर्डिङ्ग में कुछ छात्रों ने सुपरि० के विरुद्ध शिकायत की "कि हमको गेम्स (खेल) के लिए टायम (समय) नहीं मिलता, यदि हम कभी गेम्स में रह जाते हैं, तो शाम होजाने पर सुपरि० भोजनालय बन्द करा देते हैं और हमको भूखा रहना

पड़ता है," इस पर अधिकारियों ने सुपरि० को डाट कर लिख दिया कि छोकरों का कहना ठीक है, इसलिए उन को रात्रि में भोजन न करने पर जोर न दिया जाय, भोजन रक्खा रहे और जब वे आवें तब खालें. इसी प्रकार धर्म शिक्षा के लिए भी कह दिया, कि उन को स्कूल में बहुत परिश्रम पड़ता है इस लिए धर्मशिक्षा के लिए दबाया न जाय,वे जब जितना पढ़ें, पढ़ादो, दबाव मत दो। एक दि० जै० बोर्डिङ्ग में एक अजैन मास्टर आनरेरी सुपरि० नियुक्त हुए उन का हाथ खर्च निज के लिए लगभग ४०) मासिक होता था, तो भी आनरेरी थे, उन्होंने बोर्डिङ्ग में बहु संख्या अजैनों की करदीं और पर्यूषण पर्व दिवसों में (भादों सुदी ४ से १५ तक) बोर्डिङ्ग के, एक ऊपर के कमरे में गणपति (गणेश) की लम्बोदरी सूँडवाली प्रतिमा स्थापित करदी और गणेशोत्सव मनाया गया, जिसमें जैन छात्रों को सम्मिलित होना आवश्यक रक्खा गया था। एक बोर्डिङ्ग में सट्टेबाज सुपरि० नियुक्त था। एक बोर्डिङ्ग के धर्म–शिक्षक पंडित धर्म–तत्वों के विरोधी हैं, वे खूब जोतोड़ धर्म का खंडन करते हैं और अपना नया ही पंथ निकाल रहे हैं और अपने आप को तीर्थंकर मानने लगे हैं। एक बोर्डिङ्ग के मत्री एक बी. ए. एल. एल. बी साक्षी मोटर हैं, आप स्वयं देव-दर्शन नहीं करते और धर्म से कुछ भी लाभ नहीं होता ऐसा मानते हैं। प्रायः सभी बोर्डिङ्गों में सरकारी कालेज या स्कूली परीक्षा से ३ माह पहिले ही धर्म शिक्षा तो बन्द करही दी जाती है, साथ ही धर्म शिक्षा न लेने, या फेल हो जाने पर छात्रों को कुछभी नहीं कहा जा सक्ता है। तात्पर्य—अन्यान्य बोर्डिङ्गों से सामाजिक व धार्मिक बोर्डिङ्ग में नाम मात्र ही विशेषता होती है, यहां भी उनके चरित्र व धार्मिक आचरणों पर कुछ विशेष प्रभाव नहीं डाला जाता और इस प्रकार ये भी उनकी पाश्चात्यशिक्षा व संस्कृति के पोषक तो होते हैं, परन्तु सदाचार, धार्मिकता, मितव्ययता, स्वावलंबन, विनय,

सभ्यता, परोपकारिता, दया, क्षमा आदि गुणों को बालकों में उत्पन्न करने में शिथिल पाए जाते हैं, अर्थात इन बातों के लिए ये उत्तरदायित्व नहीं रखते या वे इन बातों को व्यर्थ समझते हैं, जबकि संस्था के संचालक ही धर्म में शिथिल विचार रखते हों, तो उसके छात्र-छात्राएं अवश्य ही धर्म विरोधी भाव रक्खेंगे, ऐसी दशा में इन बोर्डिङ्ग हाउसों से क्या लाभ हो सकता है सो समाज विचार करे। यहां किन्हीं २-४ बोर्डिङ्ग हा० की परिस्थिति का ही दिग्दर्शन कराया गया है।

बोर्डिङ्ग हाउस, उपयोगी संस्थाएं हैं यदि उनके संचालक उनके उद्देश्यों की पूर्ति करते कराते रहें, गवर्नमेंट की संस्थाओं के समान, इन के भी नियमों का पालन ठीक २ कराते रहें, सुयोग्य गृहपति की नियुक्ति करें, धर्म-शिक्षक स्वयं धर्मात्मा अनुभवी विद्वान हो, जो बालकों को आधुनिक शैलीया धर्म-तत्वों का ज्ञान करा सके, उन के प्रश्नों का प्रेम से विद्वता के साथ आगम से अविरुद्ध युक्तियों और अनुभव से दृष्टांत पूर्वक समाधान कर सकता हो प्रभावशाली हो, धर्म-शास्त्रों का पूर्ण पण्डित होते हुए भी, पाश्चात्य विद्या में भी दक्ष हो, प्रेमालु, धीर वीर गम्भीर स्वभाव वाला हो, स्वावलम्बन और सादगीपसन्द हो, वह नौकरी के लिए नहीं, किन्तु अपना कर्तव्य समझ कर ही धर्मोपदेश देता हो, श्रद्धालु और सच्चरित्र हो। इन बोर्डिङ्ग हाउसों के नियम गुरुकुलों के समान हों, इन का खान पान, रहन सहन सब स्वदेशी हो, खेल-कूद भी स्वदेशी हों, इन की भाव-भंगी स्वदेशी हो, स्वदेश के लिए ही इन का अस्तित्व हो, इन के कार्यकर्ताओं का चुनाव, बड़ी बुद्धिमानी के साथ होना चाहिए और गृहपति धर्मोपदेशक खूब जांच कर रखना चाहिए क्योंकि बालकों पर इनका प्रभाव पड़ता है, इस पर भी समय २ पर वास्तविक जांच पड़ताल होती रहे, जिस से ये संस्थाएं अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में सफल सिद्ध हों, जाँच करने वाला (सु.पर.

वाईजर) बहुत बुद्धिमान्, गंभीर और पक्षपातरहित होना चाहिए, अन्यथा वास्तविक जांच न हो सकेगी, झूंठे और मुंहलगे चापलूस वाजी मार ले जांयगे और सच्चे दंडित होकर कार्य से उदास हो अपने दिन काटेंगे। एक संस्था के (विद्यालय के) सुपरि० से बात हुई, मैंने पूछा क्यों बाबूजी आपकी संस्था के बालक इतने स्वच्छंदी और अविनयी बन गए हैं, आप इस पर क्यों ध्यान नहीं देते? उत्तर-महाराज मैंने अपनी नौकरी के प्रारंभिक वर्ष में नियमों के अनुकूल कड़ी दृष्टि रक्खी और नियमानुकूल काम चलाया, परंतु फल विपरीत हुआ, लड़के सब विरोधी बनगए, नित्य झूंठी और कल्पित बनावटी शिकायतें होने लगीं, रसोइया आदि नौकर भी विरोधी होगए और मैं बिल्कुल इस पोस्ट के अयोग्य समझा जाने लगा, मंत्री आदि अधिकारियों की दृष्टि में गिर गया, नौकरी से हाथ धो बैठने का अवसर आ गया, बस! मैं चेत गया, मैंने वाजी बदलदी, शासन की डोरी ढीली करदी, जान बूझ कर उपेक्षा भाव धारण कर लिया। तात्पर्य-मैंने अपने आपको सुपरि० के बदले आफिस क्लर्क बना लिया, बस! थोड़े ही दिनों में मेरी गणना योग्य कुशल कार्यकर्ताओं में हो गई, छात्र, नौकर और अधिकारी सब मेरी प्रसंशा करने लगे, आज कल सब मुझ से खुश हैं और काम भी अब कम करना पड़ता है आपने जो प्रश्न किया है हमारे अधिकारियों ने कभी नहीं किया, इसलिए मैंने तो यही सिद्धान्त बना लिया है कि खुश रखना और खुश रहना, नियम और उद्देश्य से हम को प्रयोजन नहीं जब अधिकारीगण ही उद्देश्य और नियमों के पालन करने से नाराज होते हैं, तो हम तो नौकर ही ठहरे, हम को तो उनको खुश रखना और नौकरी चलाना है इत्यादि। समाज इस उत्तर पर विचार करें और कार्यकर्ता जिन पर समाज ने विश्वास कर रक्खा है उन के कार्यों पर ध्यान देवें। एक और किसी बोर्डिंग हा० के महामंत्री

जब २ बोर्डिङ्ग को देखने आते हैं, तो उनका एक ही कार्य रहता है कि विद्यार्थियों में अपने प्रान्त का पक्ष भरना, वे बालकों से अथवा अन्य स्वप्रांतीय जैन व अजैन भाइयों से कहा करते हैं, कि देखो दूसरे प्रान्त के लोग हमारा पैसा ले जाते हैं, तुम लोग ध्यान नहीं देते, यदि तुम सीख जाओ तो और प्रान्त वाले क्यों खा जांय ? इस प्रकार छात्रों और गृहपति में भेद बुद्धि पैदा करते रहते हैं, ये अपने प्रांत के अनुभवहीन अजैन को भी अन्यप्रान्तीय स्वधर्मी बन्धु से भी अधिक आदरणीय समझते हैं उनको अपने प्रान्तीय स्वभाषाभाषी व्यक्ति के भारी भी दोष नहीं दीखते, परन्तु अन्य प्रान्तीय धर्मात्मा सज्जन के भी दोषों की कल्पना हो जाती है, एक बार छात्रों से पूछा, क्यों तुमको गृहपति कष्ट तो नहीं देता, बालक- ना साहेब, हमको कोई कष्ट नहीं है। गृहपति तो हमको प्रेम से रखते हैं, बड़ी खबरदारी रखते हैं, यह बात मन्त्री और छात्रों की एकान्त की थी, इस समय गृहपति वहां न था, तो भी मन्त्री साहब ने दूर की बात ढूंढ निकाली, कि गृहपति ने लड़कों पर बहुत दवाब डाल रक्खा है इस से वे दब गए हैं, अपना दुख नहीं कह सकते, बस ! गृहपति को बुलाकर सबके सामने शिक्षा करदी, कि तुम बालकों को बहुत दबाते धमकाते हो, जिससे वह अपनी तकलीफ भी नहीं बता सकते, ये तो लड़के हैं इन पर इतना दवाब देना ठीक नहीं, किसी अन्य समय लड़कों ने पूछने पर कुछ शिकायत की, बस ! तुरंत गृहपति को बुला कर डांट दिया, देखो बालकों को शिकायत न आना चाहिये, इत्यादि। इस अविचारितरम्य पक्षपात सहित मंत्री आदि के बर्ताव का छात्रगण क्यों नहीं दुरुपयोग करेंगे ? एक संस्था के अधिष्ठाता, कभी गृहपति को कुछ आज्ञा देते, जब बालक उसके विरुद्ध आवाज उठाते, तो कह देते, गृहपति बेवकूफ है, व्यर्थ ही लड़कों को तंग करता है, यदि गृहपति कहता मैंने आपकी आज्ञा से किया है, तो कहते हमही को दोषी बनाते हो, हमने कब कहा ? जब गृह० उस बात को

छोड़ देता, तो कभी आप अ कर कहते, तुमको सौ बार कहा, कि इस प्रकार लड़कों पर नियन्त्रण रक्खो, देखो वे यत्र तत्र फिरते हैं न पढ़ते हैं, न लिखते हैं।

गृह० आप ही ने तो उस दिन मना कर दिया था, इसलिए नियंत्रण हटा दिया गया है। अधि० बस ! तुमको काम करना तो आता नहीं, और मुंहजबरी करते हो, तुमको कुछ कहना ही पाप है, यदि गृह० कहता कि श्रीमान् आर्डरबुक पर लिख दिया करें, तो ठीक होगा, जिससे अपनी भूल सुधार सकूं और श्रीमान् मेरा लक्ष्य आर्डर पर खेंच सकें, तो आप नाराज होकर कह देते, क्या मैं झूंठ बोलता हूं ? बदल जाता हूं ? तुम्हारे लिए रजिष्ट्री कर दिया करूँ ? इत्यादि परिस्थिति में शिक्षक या गृहपति आदि कभी भी सुप्रबन्ध नहीं कर सकते, न कोई व्यवस्था बनती है इन निर्बल मस्तिष्क प्राणियों के सामने जिसने सच्चा झूंठा रोना रो दिया चापलूसी करदी हां में हां मिलादी, वही विजय-पताका ले भागता है, न्यायी या सच्चा मारा जाता है और फिर वह भी झूंठा चापलूस चतुर चालाक बन जाता है, यह दोष अधिकारियों का ही है।

इसलिए प्रत्येक कार्य, मनुष्य की योग्यता देखकर ही उसे सौंपना चाहिये। इस में स्वजातीय, विजातीय, स्वप्रांतीय, श्रीमान्, सम्बन्धी आदि का मुंह देखना नहीं चाहिए, सभी श्रीमान् या सभी विद्वान् सभी बातों में दक्ष नहीं होते। प्रत्येक का ज्ञान, रुचि और अनुभव जुदा २ होता है, इसलिए जो जिस कार्य के योग्य हो, उस को वही कार्य सौंपना चाहिए, वकील को दवाखाने का सुपरवाइजर बनाने से लाभ नहीं होगा, शिक्षा खाते की सम्हाल शिक्षा खाते वाला ही कर सकता है, वह बालकों और अध्यापकों के व्यवहारों को जानता है, सेठ साहूकार सर्राफ आदि नहीं जान सकते, ये तो कोषाध्यक्ष हिसाब-

निरीक्षक बन सकते हैं, परन्तु समाज इसका विचार ही नहीं करती, और जिस किसी श्रीमान् या विद्वान् को चाहे जो अधिकार सौंप देती है, फिर कभी सम्हाल भी नहीं करती। यदि कुछ संस्था की अकीर्ति सच्ची झूठी सुनी, तो सहायता देने से हाथ तो खींच लेती है, परन्तु न जांच करती कराती है, न उचित सुधार ही करती है, ऐसी दशा में संस्था सुधर नहीं सकती, इसलिए अधिकारियों और समाज का ध्यान इस ओर आकर्षित करता हूँ।

अब विद्यालय गुरुकुल और आश्रमों के विषय में कुछ विचार करके लेख समाप्त करूंगा। ये सामाजिक संस्थायें प्रायः एक प्रकार के गुरुकुल के रूप में ही चलाई जाती हैं, क्योंकि इन में अभ्यास करने वाले छात्र-छात्रायें वहीं रहते हैं और खान पानादि भी संस्थाओं की ओर से ही दिया जाता है। अध्यापक अध्यापिकायें इन को वहीं आकर पढ़ा जाते हैं, बोर्डिङ्गों की तरह इन की देख रेख के लिए १ गृहपति भी नियुक्त रहता है जो इनके लिए सब प्रकार का प्रबन्ध करने और सदाचारादि सद्गुणों की रक्षा करने वाला माना जाता है, केवल इतना ही भेद इन गुरुकुलों, आश्रमों व विद्यालयों में रहता है, "कि गुरुकुलों में तो अविवाहित छोटी अवस्था वाले बालक लिए जाते हैं और उनको अपने गुरुकुल (ब्रह्मचर्याश्रमीय) जीवन में ब्रह्मचारी रह कर ही विद्याऽध्ययन करना पड़ता है। जब कि विद्यालयों में ऐसा कोई बन्धन नहीं है, वहीं बड़ी उमर वाले विवाहित विद्यार्थी भी रहते हैं। अनाथाश्रमों में अनाथों की प्रधानता रहती है। श्राविकाश्रमों में कन्या, सधवा, विधवा सभी रक्खी जाती हैं, पढ़ाई आदि अन्यान्य व्यवस्थायें लगभग समान ही रहती हैं। इन संस्थाओं में प्रायः सभी अन पेड छात्र-छात्रायें रहते हैं और उनका भोजन, वस्त्र, पुस्तक, परीक्षा, अध्यापक आदि सभी का खर्च संस्थाओं को ही करना पड़ता है। इस प्रकार इन संस्थाओं में खर्च अधिक होता है और आमदनी

जनता की उदारता पर निर्भर रहती है, इसलिए ये जनता के भरोसे चलने वाली सभी संस्थायें बड़ी कठिनता से अपना काम चलाती हैं, अपीलें छपाती हैं, विज्ञापन निकालती हैं, प्रचारक भेजती हैं, सहायतार्थ खानगी चिट्ठियां लिखती हैं, यात्रियों से प्रेरणा करके सहायता कराती हैं, तात्पर्य सभी ऐसी संस्थाओं के संचालक निरन्तर द्रव्य की चिंताओं में मग्न रहते हैं, वे संस्थाओं के सुधार और उन्नति सम्बन्धी या विद्यार्थियों के वर्तमान और भावी सुखद जीवन के विषय में कुछ भी विचार नहीं करने पाते, किन्तु उनको तो मात्र एक ही चिंता रहती है कि किसी प्रकार से द्रव्य आवे और उन का कम से कम चालू खर्च तो चलता रहे। इस के लिए उनको, सबको 'येन केन प्रकारेण' प्रसन्न रखना पड़ता है, ताकि कोई विरुद्ध शिकायत न उठने पावे और जनता प्रसन्न रहकर द्रव्य प्रदान करती रहे, वे अध्यापकों के कार्यों की देख रेख नहीं रख सकते, बालकों पर कड़ाई नहीं कर सकते, क्योंकि उनको भय रहता है कि कहीं ऐसा न हो, अध्यापक जो नाराज हो जांय, तो कम वेतन पर दूसरा अध्यापक कहां से लावेंगे? अथवा वह अध्यापक दलबंदी न बना देवे, या निकल कर मंत्री आदि कार्य कर्ताओं के विषय में या संस्थाओं के विषय में कोई अपवाद (अफवाह) न उड़ा देवें जिससे आमदनी बंद हो जावे, या हम को अपना अधिकार (पद) त्याग करने का अवसर आवे। इसी प्रकार विद्यार्थियों का भय रहता है कि हमने इस पर कड़ाई की तो यह कहीं यहां से भाग न जावे, क्योंकि अन्यान्य सहयोगिनी संस्थायें तो मुंह फाड़े ही हैं। वे कोई भी विद्यार्थी किसी भी संस्था का, चाहे किसी भी कारण से भाग कर आया हो या निकाला हुआ आया हो, उसे कुछ भी पूर्वापर विचार किए बिना ही भरती कर लेती हैं, यहां तक कि पूर्व संस्था से पूछना, या प्रमाण पत्र मगाना तो दूर रहा, किन्तु पूर्व संस्थायें लिख लिख कर थक जाती हैं, तो भी ध्यान नहीं देतीं, मानो उन्हें

अपूर्व निधि, बिना परिश्रम केही प्राप्त हो गई है, इसलिए इतनी लुब्ध होजाती हैं कि जैसे कोई चोरी के माल पर लुब्ध होकर उसे छिपा छिपा कर रखता है, यह संस्थाओं की भयंकर और पारस्परिक घातक नीति जबतक कायम रहेगी, तबतक कभी भी न तो संस्थाओं का और न छात्रों का ही सुधार होगा हाँ! इससे वे संस्थाएं अपनी झूठी कार्य-वाही जनता को दिखा कर किसी तरह अपना खर्च पैदा अवश्य कर लेवेंगी। ये गर्व (गौरव) के साथ जनता के सन्मुख अपनी रिपोर्ट (वार्षिक-विवरण) रक्खेंगी कि संस्था से इस वर्ष इतने तीर्थ इतने शास्त्री, इतने विशारद, इतने आचार्य, आदि उत्तीर्णता प्राप्तकरके निकले हैं, संस्था आज कल उन्नति पर है जनता की अच्छी सेवा कर रही है, इसके संचालक मंत्री, सभापति तथा गृहपति अध्यापक आदि धन्यवाद के पात्र हैं, इत्यादि।

यह कैसे आश्चर्य की बात है कि पढ़ा-लिखा कर उच्च शिक्षा के योग्य तो दश वर्ष पालन पोषण करके अन्य संस्था ने तैयार किया और साल छः महिना, ऐसे भागे या निकाले हुए छात्र को रख कर परीक्षा दिलाने वाली संस्था ने नाम कमा लिया, पूर्व संस्था योंही टापती रह गई—बस! इस डर से संस्थाओं के संचालक छात्रों से डरते रहते हैं, कि यदि यह भाग गया तो हमारी वर्षों की सेवा व्यर्थ हो जावेगी, इसलिये वे छात्रों के असह्य भी दोषों की ओर आँखों के सन्मुख कान कर लेते हैं, अर्थात् उपेक्षा करते रहते हैं, और इसलिए उन छात्रों व अध्यापकों में वे दोष बढ़ते रहते हैं तथा और भी अनेकों दोष घर कर लेते हैं, जिससे छात्रों का भावी जीवन अत्यन्त दुःखकर हो जाता है। वे बिचारे कहीं के नहीं रहते, "न दीन के न दुनियां के" क्योंकि उनमें न सभ्यता होती है न सदाचार होता है, न कमाना आता है, न लोकव्यवहार ही जानते हैं, न उनकी विद्या ही उनके साथ रहती है, वे तो परीक्षोत्तीर्ण हो जाने से अहंकार से भर जाते हैं इसी लिये माता

सरस्वती अहंकारी पुत्र को त्याग कर चली जाती है, केवल कागजी प्रमाण ही हाथ रह जाते हैं, उन्हें ही साइनबोर्ड बना कर विद्वत्ता की दुहाई देते रहते हैं, मैं पूछ सकता हूं, कि क्या कोई संस्था अपने यहां से निकले उत्तीर्णता प्राप्त छात्र के विद्यालय छोड़ने के बाद, सांसारिक (गार्हस्थिक) जीवन की भी खबर रखती है, कि पीछे उनकी क्या अवस्था होती है ? वे भूखे हैं या प्यासे हैं, या भरपेट खाते हैं, वे समाज में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं या अनादर की, वे जनता की सेवा कर रहे हैं, या पेट भरने के लाले पड़ रहे हैं, वे गृहस्थ के षट् कर्मों का पालन, न्याय पूर्वक जीविका करके कर रहे हैं या भ्रष्ट जीवन बिता रहे हैं, इत्यादि ।

संस्थाएं मात्र पुस्तकें रटा कर पास करा देना और अपनी रिपोर्ट छपाकर पब्लिक को दिखा देना मात्र ही कर्तव्य क्यों समझती है ? क्या वे उनके भावी जीवन का उत्तरदायित्व नहीं रखती ? यदि नहीं तो मात्र परीक्षोत्तीर्ण करा देने से बालकों और समाज का क्या उन्होंने हित किया ? जब तक कि वे उनसे प्रौढ़ विद्वान् समाज धर्म और देश के सच्चे सेवक, न बनावें, जब तक कि उनके द्वारा तैयार किये छात्र सहज सहज बिना दीनता दिखाए व बिना चापलूसी किए स्वयोग्य आजीविका, स्वतन्त्रता से प्राप्त न कर सकें और अपनी न्याययुक्त कमाई में से कुछ अंश (दसवां, बीसवाँ भाग) अपनी उपकारक संस्था को देकर उसके द्वारा प्राप्त की सहायता) विद्यार्थी जीवन में संस्था द्वारा खर्च की गयी रकम) पूरी न करदें । अधिक देवें, तब तो अहो भाग्य, परन्तु कम से कम कर्ज तो चुकादें " यदि ये छात्र ऐसा करने लगें और संस्थाएं इनसे ऐसा बाउन्ड (इकरार नामा) बाकायदे करा लेवें, तो बीसों वर्षों से चलती आई संस्थाओं को, इस प्रकार द्रव्य की चिन्ता न करना पड़े, वे अपने पैरों खड़ी होजावें, क्योंकि उन्होंने हजारों छात्र पढ़ा कर निकाले हैं थोड़ी थोड़ी भी सहायता करने से सैकड़ों की सहायता

हो सकती है साथ ही वे औरों से भी यथा अवसर सहायता कर सकते हैं, जिससे पोस्टेज छपाई और प्रचारकों का मार्ग बच कर संस्थाओं की अच्छी सेवा हो सकती है।

परन्तु इस समय यह बात ऐसी है, जैसे जल से मक्खन निकालना या रेत में से तेल निकालना, क्योंकि बेचारे तीर्थ और विशारद २०) बीस रुपया की नौकरी के लिये प्रान्तों प्रान्त मारे २ फिर रहे हैं, इनके पास पूंजी नहीं जो व्यापार करें और न व्यापार करना ही जानते हैं, कि किसी व्यापारी के यहाँ कार्य कर सकें, महिनत मजूरी होनी नहीं उद्योग हुनर सिखाया नहीं गया, खोमचा (फेरा) करने में शरमाते हैं, भूख सताती है, पत्नी का भार माथे लद गया और पुत्र भी होगया, अब क्या करें अनन्यगति होकर किसी सामाजिक पाठशाला में छोटी मोटी नौकरी पर ही संतोष करना पड़ता है जीवन भर कमाते हैं, और पास में फिर भी कुछ नहीं रहता। यदि दैव योग से नौकरी छूट गई साल छः महीने घर बैठना पड़ा तो घर वालों को भार हो जाते हैं, या कुछ चीज बेच बाच कर किसी तरह जीवन के दिन काटते हैं। उस समय विद्यार्थी जीवन के ऐशो आराम व उद्दण्डतादि काम नहीं देते।

हाय कैसी दयनीय अवस्था हो जाती है, उनकी दशा पर निर्दयी भी एक बार आँसू बहा देता है, भला ऐसे व्यक्तियों से हम क्या संस्थाओं को सहायता की आशा कर सकते हैं ? नहीं २ व्यर्थ का वितंडावाद करना है। इसके सिवाय समाज में इनी गिनी पाठशालाएँ हैं, जो पंचों की देनगी और मर्जी पर चलती हैं, नई खुलती नहीं, यदि एक नई खुली, तो २ टूट जाती हैं, और प्रति वर्ष विद्यालयों से बीसों छात्र निकलते हैं सो उन सबको कहाँ कहाँ नौकरी मिलेगी ? आखिर तो शेष बचे हुओं को कुछ न कुछ आजीविका का साधन करना ही पड़ेगा, यदि कहो अजैन संस्थाओं या राजकीय संस्थाओं

में कहीं भी नौकरी कर लेंगे, सो प्रथम तो इनमें इतनी योग्यता ही नहीं कि किसी अच्छी संस्थामें ये न्याय व्याकरण या साहित्य की गद्दी ले सकें, दूसरे अजैन समाज में ब्राह्मण लोग ही बहुत विद्वान् मौजूद हैं, जो प्रौढ़ विद्वान् भी हैं, तब वहाँ इनकी गुजर कैसे हो सकती है ? ये तो बिचारे उदासीनता (बेगार समझ कर) से पढ़े हुए छः ढाला, रत्न-करंड, द्रव्य संग्रह, तत्त्वार्थ सूत्र, बाल बोध आदि पुस्तकों के सहारे शब्दार्थ मात्र पढ़ा सकते हैं सो तो जैन समाज ही के काम के रहे. बाहर तो निकल ही नहीं सकते। अब कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, कि जिनको समाज में कोई जगह नहीं मिली, परन्तु भाग्य चमक गया और कदाचित् श्वेतांबर या स्थानकवासी समाज में कहीं ठिकाना पड़ गया तो निरंतर उनके संसर्ग से, उनका धान्य खाने से, उनके ग्रन्थों का पठन-पाठन करने कराने से, आजीविका के हेतु, धर्मश्रद्धा से चलित हो जाते हैं—उनके ही गीत गाने लगते हैं, अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध उनके सिद्धान्तों की पुष्टि करने लगते हैं और तुर्रा यह कि वे निष्पक्ष विद्वान् कहाते हैं। खेद है, कि इनके लिए हजारों रुपया जिस समाज ने व्यय किया, ये उसी के धर्म-सिद्धान्तों का काट करने लग जाते हैं, "घरके कुआ से आँख फूट जाती है" जिस आशा पर समाज ने इनको तैयार किया था, उस पर मात्र पानी कहीं फिर जाता, प्रत्युत उल्टे शत्रु बन जाते हैं, समाज में ऐसे कितने दृष्टान्त प्रगट मौजूद हैं।

यह सब क्यों होता है ? इस पर विचार करने से संस्थाओं का ही अपराध समझा जा सकता है, क्योंकि जिनमें बालकों का सुकुमार बाल्यजीवन से लेकर कौमार काल व्यतीत होता है, वे तरुण वय के सन्मुख जहाँ रह कर हो जाते हैं अर्थात् लगभग अपने जीवन का एक बटे तीन या एक बटे चार भाग जहाँ पूरा करते हैं, उन संस्थाओं ने इन पर अपना क्या प्रभाव डाला ? कहा जाता है कि कोरे घड़े में जिस

वस्तु का संस्कार प्रारम्भ में पड़ जाता है, उसकी वासना घड़ा फूटने पर भी नहीं जाती है, सो यहां भी बाल्य वय (जो कोरे घड़े के समान है) से ही बालक संस्थाओं में दाखिल हो जाता है और १०-१५ वर्ष तक उनमें बिताता है, फिर भी ये संस्थाएँ इन बालकों में इतना भी धर्म संस्कार नहीं डाल सकतीं कि उनसे निकला हुआ विद्वान् अन्य धर्मों के सन्मुख दृढ़ रह कर स्वधर्म की श्रद्धा से च्युत नहीं होने पावे, धर्म का प्रचार और प्रभावना तो दूर रही, परन्तु स्वयं तो धर्म में दृढ़ रहा आवे। इस विषय में जब हम जैनेतर विद्यालयों या गुरुकुलों पर दृष्टि डालते हैं तो उन को जैन संस्थाओं से कहीं अच्छी हालत में देखते हैं, वहाँ से निकले हुए अनेकों विद्वान् अपने २ धर्म व समाज पर जीवन उत्सर्ग कर देते हैं। यहाँ तक कि कितनेक तो पूर्ण विद्वान् होकर संन्यासी हो जाते हैं और धर्म प्रचार करते देखे जाते हैं, जैन समाज अपने धर्म के तत्त्वों पर (सिद्धांतों पर) अभिमान रखती है, और है भी ठीक कि जैन धर्म के ठोस सिद्धान्त समस्त जीव मात्र के हित करने वाले हैं, इसका अनेकान्त (स्याद्वाद) सिद्धांत, वादी-प्रतिवादियों कर अजेय है, इसकी तत्त्व विद्या संसार में अजोड़ है, यह सब सत्य है तो भी खेद इस बात का है, कि हमारी समाज में गत ३० -३२ वर्षों में अनेकों विद्वान् इन संस्थाओं द्वारा निकले, परन्तु इने गिने ५-६ विद्वानों के सिवाय कोई भी विद्वान् समाज के सन्मुख नहीं आए, न उन्होंने समाज की कोई ठोस सेवा की और त्याग-मार्ग में तो मान्यवर पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी के सिवाय कोई भी आगे नहीं आए कि जिससे विद्वत्ता के साथ साथ चरित्र के होने से जगज्जीवों पर उनका अच्छा प्रभाव पड़ता और समाज को बिना किसी प्रकार के खर्च में उतारे (मात्र शुद्ध सादा प्रासुक भोजन और सादे मोटे स्वदेशी खद्दर के वस्त्रों पर ही) स्वजीवन निर्वाह अर्थात् ब्रह्मचर्या संयमादि साधते हुए वीर अकलङ्क स्वामी के समान देश पर्यटन कर के जिस धर्म के गौरव-गीत घर बैठे २ गाते हैं

उसे दिगंतव्यापी बना देते, विश्व में जैन धर्म का डंका बजा देते, सच्ची धर्म प्रभावना करके दिखा देते, संसार के सन्मुख और होनहार भावी संतान के लिए आदर्श उपस्थित कर देते।

परन्तु यह नहीं हुआ, क्यों? क्योंकि संस्थायें चल रही हैं अपनी लीक पर, उनको अपना अस्तित्व तो रखना है, परन्तु आगे बढ़ कर ओजस्वी बन कर नहीं, किन्तु मात्र इतना कहलाने के लिए, हमारे यहाँ भी इतने विद्यालय हैं, इतने गुरुकुल हैं, इतने अनाथाश्रम, महिलाश्रम तथा पाठशालाएं हैं हमारी समाज में भी उन्नति हो रही है, इत्यादि। परन्तु इतने मात्र से न समाज का हित हो सकता है, न धर्म की जागृति ही हो सकती है और न पढ़ लिख कर निकलने वाले विद्वानों का इस लोक और परलोक सम्बन्धी हित ही हो सकता है?

क्यों? हमारी संस्थाओं का संचालन ठीक तौर से नहीं हो रहा है और न उनमें पारस्परिक सहयोग ही है, इसलिये ऐसी अवस्था में खर्च अधिक हो कर भी लाभ कम होता है, यदि इन संस्थाओं के संचालक मन्त्री अधिष्ठाता सभापति आदि आनरेरी होते हुए भी सच्चे दिल से काम करें, अपना समय नियमित रूप से संस्थाओं के सुधार में लगावें, स्वयं देख रेख रक्खें, स्वयं प्रत्येक विषय की जांच करते रहें, उन्नति विधायक विचारों व यत्नों को उपयोग में लेते रहें, स्वयं अनुभूत की और अन्य निरीक्षकों के द्वारा बताई हुई त्रुटियों को भरसक प्रयत्न करके दूर करने में तत्पर रहें, तात्पर्य इन संस्थाओं के कार्य को वे लोग अपना निजी और नित्यावश्यक कार्य मानलेवें और दत्तचित्त हो कर करें, व्यक्तिगत द्वेष या दया राग छोड़ देवें, मात्र संस्था के हित पर दृष्टि रक्खें, तो क्यों नहीं संस्थाएँ उन्नत और सफल उद्देश्य होंगी? अवश्य होंगी।

परन्तु मन्त्री आदि कार्यकर्ता, मात्र अधिकार के लोभी रहते हैं,

कागजों पर सही कर देना या आर्डर निकाल देना, बहुत हुआ तो पत्रोत्तर देदेना इत्यादि ही अपना कार्य समझते हैं, वार्षिक अधिवेशन आदि के समय यदि फुर्सत मिली तो रिपोर्ट पढ़ कर या सुपरि० आदि से पढ़वा कर जनता को सुनादी कुछ काम चलाऊ प्रस्ताव, जो सुपरि० आदि ने तैयार कर रखे हैं, पेश कर पास करा लिए और साल भर की छुट्टी पाई, यदि न उपस्थित हो सके तो सुपरि० आदि पेड कर्मचारी अपना कार्य समय पर करही लेते हैं और नाम मन्त्री आदि का छप ही जाता है, बस! कर्तव्य की इति श्री हो गई।

परंतु इन बिचारे पदप्राप्त अधिकारियों को अपनी जिम्मेदारी का थोड़ा भी भान नहीं होता कि जनता ने हम पर विश्वास करके यह जोखमी कार्य सौंपा है, अतएव हमारा कर्तव्य है कि हम उनके इस विश्वास पर अपने को धन्य मान कर परिश्रम सहित कार्य करें, स्मरण रहे, कि संस्थाओं के संचालन का कार्य खेल नहीं है, इस में चोटी का पसीना एड़ी तक बहाना पड़ता है, तन भी लगाना पड़ता है और मन वचन भी, इस को छोटा मोटा राज्य ही समझना चाहिए, इसलिए जैसे राजा अपने राज्य को बढ़ाने और प्रजा के पालन करने व उसको सुख पहुँचाने के प्रयत्न में निरंतर दत्तचित्त रहता है और अवसर आने पर जंग में राज्य और प्रजा के हितार्थ प्राणों तक को न्योछावर करने में भी पीछे कदम नहीं रखता, उसी प्रकार संस्थाओं के संचालकों को होना चाहिये यदि वे अधिकारी राजा हैं, तो विद्यार्थी उनकी प्रजा है, इसलिए इनका लालन पालन शिक्षण बड़ी सावधानी के साथ न्यायपूर्वक होना चाहिये।

उन की देखरेख सम्हाल और संरक्षण के लिये, योग्य, सदाचारी व्यवहारकुशल, विद्वान्, धर्मवीर, गृहपति मैनेजर संरक्षक आदि तथा शिक्षण-परीक्षण के लिये सुयोग्य विद्वानों, को जो उन को धर्म, नीति, व्यवहार, आदि सभी विषयों में आदर्श रूप होकर शिक्षा देसकें, परीक्षा

कर सकें, बालकों के स्वभाव के जानकार होवें, नियुक्त करें और उस पर भी प्रत्यक्ष तथा परोक्षरीत्या सब के कार्यों और व्यवहारों की जांच करते रहें, अपराधी को उचित दण्ड और कुशल कार्य-वाहकों को उचित पुरस्कार आदि की योजना करते रहें अपनी संस्था से निकले विद्वान् कहां २ हैं, उनसे धर्म व समाज की क्या सेवा हो रही है, उनके प्रति जनता का कैसा विचार है, वे अपनी उपकारिणी संस्था को क्या बदला दे रहे हैं, इत्यादि बातों पर ध्यान रक्खें। तथा वर्तमान के छात्र कौन किस विषय में कैसी योग्यता रखते हैं, उनकी स्वाभाविक रुचि किस ओर है, वे किस विषय में अधिक उन्नति कर सकते हैं, उनकी घरू परिस्थिति कैसी है, वे कितने काल तक विद्याऽध्ययन कर सकते हैं, उनकी आजीविका का भावी साधन क्या हो सकता है? उन में पुस्तकों के अतिरिक्त व्यवहार ज्ञान भी हो रहा है या नहीं, उनके धार्मिक विचारों में प्रौढ़ता आ रही है या शिथिलता, धार्मिक क्रियाएँ (देव-पूजा स्वध्याय, गुरु सेवा, शुद्ध खान पान) आदि का यथार्थ साधन करते हैं या नहीं, उनके सदाचार में कोई दोष तो नहीं लग रहा है, ब्रह्मचर्य का घात तो नहीं हो रहा है, उनमें मानसिक बल, पुरुषार्थ साहस और शारीरिक बल बढ़ रहा या घट रहा है, उन में वाक्पटुता हुई या नहीं, विनय, दया, क्षमा, सेवा, वात्सल्यता, गुणग्राहिता, स्वावलंबन, धैर्य, सहिष्णुतादि गुणों का विकास हो रहा है या जड़ता, हठता, क्रूरतादि दुर्गुणों का प्रादुर्भाव हो रहा है क्या उनमें एक सच्चे धर्मात्मा पुरुषार्थी सुयोग्य नागरिक के गुणों का विकाश हो रहा है, इत्यादि बातों पर खूब ध्यान देवें और जिस प्रकार से हो सके उनके जीवन को सुखद और धर्म देश व समाज सेवक के रूप में ढाल देवें।

इस के लिए अच्छे २ अनुभवी साधुवृत्ति, परोपकारी, सच्चे, प्रौढ़, सदाचारी, धर्मात्मा, सेवक, गृहतियों, संरक्षकों और शिक्षकों की उनके योग्य वेतन देकर, नियुक्ति करना होगी; उनके कार्यों का विभाग

अवधि भी नियत करना होगी। ताकि वे अपने उत्तरदायित्व के कार्यों को करते हुए, कुछ समय अपने पुत्र पुत्र्यादि की उचित सम्हाल करने तथा शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक आराम करने को भी समय पा सके। एक ही व्यक्ति से पीर ववर्ची भिश्ती खर का कार्य लेना और फिर उससे उत्तरदायित्व की आशा रखना व्यर्थ है।

वर्तमान में हमारी सामाजिक प्रायः सभी संस्थाओं में यही व्यवस्था हो रही है, कि नाम तो धरा देते हैं गृहपति (सुपरि०) का और कार्य लेते हैं मुनीम, क्लार्क, भंडारी या चपरासी का, अर्थात् वही आफिस के सब रजिस्टरों को अपटुडेट भर कर तैयार रक्खे, लेन देन, हिसाब किताब, आय व्यय आदि के कार्य, वही खाता, व अदालती कार्य भी वही करे, चिट्ठी पत्री, मंत्री सभापति अधिष्ठातादि की तरफ की तथा अपने आफिस सम्बन्धी भी वही करे, सामान भोजन भण्डार रिकार्डकीपिंग आदि भी वही करें, आगन्तुक तथा निरीक्षकों से निरीक्षण परीक्षण कराकर कुछ सहायता भी वही करावे, भोजन तथा रहन सहन आदि में विद्यार्थियों को सुभीता पहुँचाने की व्यवस्था भी वही करे, (यदि बोर्डिङ्ग सुपरि० है तो धर्म शिक्षा भी वही दे दिया करे और परीक्षा दिलाकर पास करा दिया करे) अध्यापकों तथा छात्रों की देख रेख आदि सम्पूर्ण सम्हाल भी करे और सब की जवाबदारी रक्खे, वेतन सबसे कम लेवे और सब से अपने को हीन माने, सब की आज्ञा माथे चढ़ावे, इत्यादि। जब इस प्रकार वेहिसाब कार्यभार सौंपा जाता है तो वह किसी को भी पूरा न कर चतुराई से दिखाऊ कार्य कर, कराकर अपने अधिकारियों को खुश रख कर अपनी आजीविका चलाता है. संस्था का कुछ हो और छात्रों का भी चाहे सो होवे, इसकी उसे पर्वाह नहीं रहती, न वह कुछ कर ही सकता है। इसलिए सुपरि० (गृहपति) को खुद करने का लिखा पढ़ी, रिकार्ड कीपिङ्ग आदि) कार्य बहुत कम होवे, वह आवश्यक पत्र व्यवहार आदि

आफिस कार्य करे और शेष कार्यों के लिये एक आफिसक्लर्क या मुनीम रहे, हाँ जिम्मेदारी सब की सुपरि० की ही हो, सभी कार्यों में वह दक्ष हो योग्य मैनेजर, इन्सपेक्टर व आडीटर हो मुख्य कार्य बालकों की दिन-रात्रि चर्या की देख भाल सम्हाल हो. ऊपर बताई प्रत्येक बात जो छात्रों में होना जरूरी हैं, उन का उत्पादक हो, और दोषों का संहारक हो।

वास्तव में सुपरि० का पद बड़ी भारी जोखम (उत्तर दायित्व) का है, परन्तु खेद है कि जैन समाज ने इस पद का अर्थ नहीं समझा, इसलिए संस्थाओं में एक क्लर्क रख दिया जाता है जो कम वेतन लेवे, सब की जी हुजूरी करे और सुपरि० कहलावे, इसके लिए कोई सस्ता-सा थोड़ा पढ़ा लिखा लड़का या बुड्ढा देख लिया जाता है, जो उक्त रस्मों को यथाशक्ति अदा करता रहे, भला ऐसे व्यक्ति का बालकों और अध्यापकों पर क्या प्रभाव पड़ेगा? कभी २ तो उल्टा ही असर हो जाता है, क्योंकि जो व्यसन सुपरि० में होंगे, वे तो बालकों में पैदा हो ही जाँयगे, अधिक हों सा अलग।

इसीतरह अध्यापकों की हालत है, यद्यपि वे परिमित ही कार्य करते हैं, परन्तु पुस्तकें रटा देना मात्र जानते हैं, वे कभी भी बालकों को उनके जीवनोपयोगी नैतिक शिक्षा, व्यवहारिक शिक्षा, समाज व देश की परिस्थिति सम्बन्धी शिक्षा, शारीरिक व्यायामादि सम्बन्धी शिक्षा, राजनैतिक शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा, क्रियाकाण्ड सम्बन्धी शिक्षा, शिष्टाचार पालन, सेवा, वैयावृत्ति, विनयाचार, संयम, ब्रह्मचर्य, स्वावलम्बन, साहस, और वीरता आदि विषयों की शिक्षा नहीं देते, वे ये शिक्षाएं क्या देवें, स्वयं भी इन से परे हैं। एक प्रसिद्ध संस्था में एक वैयाकरण पढ़ाने आता था, वह आते ही गद्दी पर लम्बे पाँव करके पड़ जाता और लड़के पास बैठ कर पढ़कर चले आते, बोर्ड पर

या पाटी पर रूप बनाकर बताना समझाना पूछना वह नहीं जानता था, मुँह से बकता जाता, लड़के सुनते या बोलते जाते, पाँव फैलाकर गद्दी से टिक कर अभिमान से बैठना तो प्रत्येक अध्यापक का कर्त्तव्यसा हो गया है. इसमें वे गौरव समझते हैं, परन्तु यह उनकी असभ्यता है। एक संस्था में छात्र, मौन से एक जगह बैठकर ही कुछ खाते पीते हैं, ऐसा संस्था का नियम है, परन्तु वहाँ के एक जैन अध्यापक पढ़ाते हुए मूंगफली किसमिस आदि खाते जाते थे, एक अध्यापक क्लास में पान तम्बाकू खा करके पढ़ाने बैठते और बारबार थूका करते थे, एक अध्यापक बारबार हुलास सूंघा करते थे, एक संस्था में बालक तो मूंड मुड़ाकर के रहते, परन्तु गृहपति अध्यापक अंग्रेजी ढङ्ग के बाल रखते, एक अध्यापक लड़कों के सामने पढ़ाते हुए कहते, बड़ी सख्त गर्मी है, तबियत परेशान हो जाती है और इस संस्था का कैसा खराब कायदा है कि गर्मियों में भी बन्द नहीं होती, तुम लोग क्यों नहीं मन्त्री आदि से आग्रह करके छुट्टी कराते। ये महाशय तो छुट्टी ही टटोला करते और गर्मी २ कहते हुए स्थान छोड़ कर दरवाजे में आकर बैठ जाते जिस से कमरे में आने वाली हवा का उपयोग ये ही कर लेते और बेचारे लड़के और अधिक गर्मी में पचने लगते। गाली देना, तुम मर जाओ, चांडालो, बुरी चीज खाते हो इत्यादि तो इन के सहज स्वभाव में था। कभी मार भी अध्यापक बुरी तरह लगाते हैं। लड़कों के सामने अध्यापकों का हंसी-मज़ाक, जिसका असर विद्यार्थियों के शील-स्वभाव पर बुरा पड़ता है, करना तो दोष ही नहीं गिना जाता, चलते फिरते खाना, गप्पें उड़ाना, लड़कों को गप्पों में लगाना, पार्टीबंधी करा देना; ये तो इनकी खास आदतें होती हैं गृहपति या अध्यापकों का घरू काम करना, उनकी धर्मपत्नियों की आज्ञा भी सिरोधार्य करना, उनके बच्चों को खिलाना, यह गुरु सेवामें सम्मिलित समझा जाता है। स्थानीय अध्यापक या गृहपति के घरों में छात्रगण छूट के साथ आते

जाते हैं और ऐसी सेवा नहीं, बल्कि चापलूसी का फल संस्थाओंसे अनेकों प्रकार की रियायतें चाहते हैं और होता भी यही है कि चापलूस खुशामदें का सफल मनोरथ हो जाते हैं और ऐसा न करने वाले कोप-भाजन बन जाते हैं। धर्माध्यापक महाशय स्वयं पूजा आदि को ढकोसला मानते हैं, वे स्वयं पूजा नहीं करते, न लड़कों को पूजादि करना सिखाते हैं, सम्भव है कि वे स्वयं पूजादि करना न जानते हों, अच्छे २ पंडित मुनियों को आहार दान देने पड़गाहने में बगलें झाँकते हैं, इनको बाजारू अभक्ष्य मिठाइयां खाने, होटलों में खाने, अंग्रेजी दवाइयाँ खाने आदि का त्याग नहीं होता, शुद्ध भोजन यह जानते नहीं न मर्यादा का ज्ञान होता है पानी तक छान कर पीने का नियम नहीं होता इत्यादि। ऐसी बहुत सी बातें इन प्राइवेट संस्थाओं के अध्यापकों में पाई जाती हैं, कि जिन का बहुत बुरा असर छात्रों पर पड़ता है, वे सद्गुणों के बदले दुर्गुण सीख जाते हैं, परन्तु कार्यकर्ता क्या कभी इन बातों की जाँच करते हैं, इनको सुधारने का यत्न करते हैं? कभी नहीं। वे तो जब कभी आते हैं, तो सूचना देदेते हैं, जिससे उनका बढ़िया स्वागत हो जाता है और कुछ समय बढ़िया दृश्य देख जाते हैं, उनको भीतरी व्यवस्था का कुछ भी ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वे सावधान करके कुछ मिनटों के लिए आते हैं, उन्हें अध्यापकों और बालकों के स्वभावों और बार्ताओं की क्या खबर? जिसने चतुराई से कार्य बना लिया, वही बाजी ले गया! इन संस्थाओं के रसोई घरों में पानी छानने तक की क्रिया नहीं मिलती, न छात्रों पानी छानना भोजन के पदार्थों की मर्यादा (क्रिया कोष) का ज्ञान कराया जाता है, एकादि संस्था के सिवाय किसी संस्था में बालकों से पूजा नहीं कराई जाती है, सामायिक नहीं सिखाया जाता, शास्त्र बाँचने की पद्धति या व्याख्यान, संवाद आदि का अभ्यास नहीं कराया जाता। हां! कहीं २ वार्षिक जलसों पर संवाद का फारस जरूर सिखाया जाता है जो रटा दिया

जाता है, परन्तु उनमें तार्किक शक्ति नहीं पैदा की जाती। इन छात्रों से सस्थाओं के कोई भी कार्य ऐसे नहीं लिये जाते, जोकि इनके व्यावहारिक जीवनोपयोगी हों, जैसे आफिस का कार्य, हिसाब, खाता बही, भण्डार (भोजन) की सम्हाल, भोजनालय की व्यवस्था, सामान की खरीद आदि। इसके सिवाय इनको प्रमादी बनाने के साधन जरूर जुटा दिए जाते हैं:—जैसे इनके स्थानों की सफाई, झाड़ना आदि नौकरों से कराना, भोजन जीमने के थाली, लोटा आदि बर्तन भी नौकरों से मंजवा देना, कपड़े धोने को धोबी का इन्तजाम कर देना इत्यादि। साथ ही ये सस्थायें, जो बालकों को भोजन, वस्त्र पुस्तकादि सब कुछ देती हैं, वे भी छात्रों को मासिक ।), ॥), १) नकद दिया करती हैं। एक संस्था तो इसके सिवाय यह भी करती थी कि जो छात्र शाम को जीमने से इंकार करदे तो संस्था उसको ~)॥ पैसा नक़द एक बार के भोजन का दे दिया करती थी, कि वह उसका दूध पी लेवे, परन्तु होता यह था कि कई छात्र सबेरे ही डॅट कर जीम लेते और शाम के पैसा लेकर बचा रखते। इस प्रकार नक़द पैसा, रुपयों का उपयोग ये छात्र क्या करते हैं? सो कोई पुरुष डिडेक्टिव बनकर वहां रहे और देखे तो पता लगेगा, कि इसका कितना दुरुपयोग होता है और उनके चारित्र को कहां तक इससे धक्का पहुँचता है? उसका वर्णन करना यहां उचित प्रतीत नहीं होता, इसलिये विद्यार्थियों को भोजन, वस्त्र और पुस्तकों के साथ और भी जो आवश्यक सामान हो, प्रबन्धकों द्वारा दिया जाय, परन्तु नक़द पैसा देना हानिकारक है।

तात्पर्य, शिक्षा संस्थाओं में योग्य स्टाफ की योजना करना और उन पर सदैव बारीक दृष्टि रखते रहना, छोटा भी दोष हो, तो भी उपेक्षा न करके, उसको प्रारम्भ से ही दूर कर देना, न्याय से दण्ड व पुरस्कार देना, किसी छात्र के, मात्र दीनता करने या रो देने पर ही दया न कर बैठना और न किसी कर्मचारी की आव भगत में प्रभावित

हो जाना चाहिये । इसके लिये कार्यकर्ताओं को बहुत कुछ सहन करना होगा:—स्वार्थ त्यागना होगा, समय लगाना होगा, बुद्धिमानी से कार्य लेना होगा, स्वयं प्रत्येक बात की जांच करनी होगी, छात्रों तथा कर्मचारियों की बुराई भी सहना पड़ेगी, व्यक्तिगत मुरव्वत छोड़नी पड़ेगी इत्यादि । परंतु यह सब तभी होगा, कि जब वह उन छात्रों वा कर्मचारियों से कुछ भी निजी सम्बन्ध न रक्खेगा, क्योंकि प्रायः ये लोग अपना कार्य बनाने के लिये घरोबा बना लेते हैं । मैं एक विद्यालय में दो वर्ष सुपरि० रहा हूं, वहां मैंने इसी बात का अनुभव किया । मैं चौके में जीमता था, इसलिये जिस दिन मैं संस्था में पहुंचा, कि उसी दिन शाम को ४–५ छात्र आकर पग दाबने की पूछने लगे, मैंने इन्कार कर दिया । पश्चात् क्रमशः बरौआ और चपरासी आया, उन्होंने भी पग दाबने की चेष्टा की, उन्हें भी मैंने निषेध कर दिया । दूसरे दिन, भोजन शाला में दो स्त्री रसोई करने वाली थीं और एक परोसने वाला पुरुष था, उन्होंने सबको रोटी जो बनी रखी थीं सो और दाल परोसी, परन्तु मुझे एक शाक (जो सांझ को बचा रक्खा था सो बघार कर तैयार किया हुआ) दाल और गरम फुलका अन्य रोटियों से कुछ हलका और पतला सेक कर रक्खा । मुझे आश्चर्य हुआ कि लड़कों को शाक नहीं है, उनकी रोटियां कुछ वजनदार मोटी बड़ी २ हैं, और मुझे शाक एवं पतला और गरम फुलका परसा है । मैंने कहा, सबको शाक परोसो । उत्तर मिला सबको नहीं है । आपके लिए कल के शाम के शाक में से बचा लिया था सो बनाया है । मैंने अपनी रोटी पास वाले छात्र को दे दी, शाक भी दो चार को पहुंचा दिया और वही रोटियां जो सबको परोसी थीं, लेकर जीमने लगा । बस ! मैं समझ गया कि इस प्रकार कर्मचारी या छात्र, अधिकारियों को अपना बना लेते हैं और उससे अनुचित (स्वार्थ) कार्य साध लेते हैं । अधिकारी जब निजी कार्य (सेवा) उनसे लेने लगते हैं, तो उन पर उस

सेवा का दबाव अवश्य ही कुछ न कुछ पड़ जाता है, जिससे उसे, उसके बदले कभी २ उनके अनुकूल न्याय, पारितोषिक तरक्की आदि देना पड़ती है और दोषों पर आंखमिचौनी करनी पड़ती है। इसलिये छात्रों तथा पब्लिकसर्वेन्ट्स (सार्वजनिक संस्थाओं के कर्मचारियों) से किसी भी प्रकार का निजी छोटे से छोटा भी कार्य, (यथा बच्चे को उठा लेना, घर दे आना, शाक ला देना, चाबी घर दे आना, इत्यादि) नहीं लेना चाहिये। प्राइवेट कार्य को प्राइवेट नौकर रखना या खुद कर लेना चाहिये। तभी उनसे संस्था का ठीक २ कार्य लिया जा सकता है। भले ही कार्यकर्ता आनरेरी हो, यदि उसे अपना समय वहां देना पड़ता है, जिससे निजी कार्य में अड़चन पड़ती है और आर्थिक परिस्थिति के कारण निजी नौकर नहीं रख सका, तो यह अच्छा होगा कि अपने लिए संस्था से एक नौकर कमेटी द्वारा स्वीकार करा लेवे और उसी से अपना कार्य कराया करे, जिससे औरों का दबाव न आने पावे।

जब २ संस्था की जांच करना हो, बिना सूचना दिए अनियमित समय पर जाकर उस समय के समयविभागानुसार कार्य देख-रेख करना, हिसाब आदि रोकड़ गिनाना, आफिस देखना, भोजनभण्डार, अन्यान्य सामान का स्टाक देखना, अध्यापकों की बैठक, पढ़ाने का ढङ्ग, छात्रों से उनका व्यवहार आदि की जांच व हिदायत करना इत्यादि। यदि इस प्रकार से छात्र, कर्मचारी और कार्यवाहक गण (अधिकारी) अपने २ कर्तव्यों को करने लगें, तो संस्थाओं की सच्ची उन्नति हो, सुयोग्य नागरिक पुरुषार्थी, विद्वान् उनसे निकलें, जो त्यागी बनकर या गृहस्थ रहकर, सुयोग्य, संयमित स्वावलम्बी जीवन बिताते हुए, धर्म, समाज और देश की यथोचित सेवा कर सकें।

संस्थाओं के सम्बन्ध में अब एक बात और कहना शेष है और

वह है उनका पारस्परिक सङ्गठन । दिगम्बर जैन समाज में मथुरा, बनारस, सागर, ब्यावर, मोरैना, उदयपुर, कटनी, इन्दौर, सहारनपुर, आदि अनेक स्थानों में पृथक् २ नामों से अनेक ब्रह्मचर्याश्रम, विद्यालय आदि कई वर्षों से चल रहे हैं, और लगभग सभी की पढ़ाई कुछ फेरफार से एक सी हो रही है। उद्देश्य व नियम भी बहुत कुछ मिलते हैं, क्योंकि सभी जगह के छात्र बनारस क्वीन्स-कालेज, कलकत्ता संस्कृत कालेज, माणिकचन्द दिग० जैन परीक्षालय या महासभाश्रित दिग०जैन परीक्षालयकी परीक्षा देते और तीर्थ शास्त्री, विशारद आदि उपाधियां प्राप्त करते हैं, तथा वे छात्रगण जब कुछ पढ़ने लगते हैं और उनको लोक की हवा लग जाती है, तो अपनी स्वच्छन्द वृत्ति पोषण के लिये एक से दूसरी और दूसरी से तीसरी आदि संस्थाओं में भागकर चले जाते हैं, या एक संस्था से अमुक २ कारणों से निकाले जाने पर, अन्य संस्थाओं में जाकर प्रविष्ट हो जाते हैं। यदि इन संस्थाओं में समानता न होती, तो वे छात्र वहां जाकर प्रविष्ट न हो सकते, इत्यादि कार्यों से उनमें समानता पाई जाती है । इसलिये जब कि उनमें समानता ही है, तो क्यों नहीं वे अपने सामान्य भेद-भाव को दूर करके परस्पर सङ्गठित हो जातीं ? और क्यों परस्पर-विरोध रखकर अपनी २ ढपली बजाती हुई अपना २ राग अलापती हैं? क्योंकि इस असङ्गठन के कारण एक तो द्रव्य का व्यय बहुत होकर भी लाभ कम होता है और दूसरे विद्यार्थियों के चरित्र पर इसका बहुत बुरा असर पड़ता है ।

द्रव्य का व्यय तो यों अधिक होता है, प्रत्येक आश्रम या विद्यालय अपने यहां से तीर्थ, आचार्य, शास्त्री आदि की उच्च परीक्षायें दिलाना चाहता है, और इसलिये उसको उक्त विषय के ऊँचे विद्वानों की योजना करनी पड़ती है, परीक्षाकी मार्गव्यय, और पुस्तकादि का व्यय उठाना पड़ता है, जब कि प्रत्येक विद्यालय में

ऐसी उच्च कक्षाओं के छात्र बहुत थोड़े, कहीं १, कहीं २-३, कहीं ४-५ ही होते हैं। इस कारण से एक-एक विद्यार्थी के लिए बहुत रुपया प्रत्येक संस्था को व्यय करना पड़ता है, इससे द्रव्य अधिक व्यय होकर के भी फल थोड़ा होता है।

इसलिये ये संस्थायें सरकारी स्कूल, हाईस्कूल और कालेजों की पद्धति के अनुसार चलाए जांय, तो थोड़े व्यय से बहुत विद्यार्थी, विद्यालाभ कर सकते हैं अर्थात् प्रत्येक नगर व ग्राम में जो पाठ-शालायें हों, वे प्राथमिक शिक्षाप्रदायिनीपाठशालाएँ समझी जांय, जहां ऐसी निजी जैन पाठशालायें न होवें, वहां बालक, बालिकायें सरकारी सार्वजनिक शालाओं में पढ़ें और उनको निजी जैन पाठ-शालाओं द्वारा जैन धर्म की शिक्षा दी जाय, जिसका क्रम नियत रहे, बाद का संस्कृत की ओर बढ़ने वालों के लिए निकटवर्ती स्थानों में प्रवेशिका तक शिक्षा देने वाली संस्थायें रहें वहां प्रवेशिका पास कर लेने पर उनको अन्य बड़े विद्यालयों में भेज दिया जाय, वहां वे विशारद तीर्थ और आचार्य आदि की परीक्षा देवें, अर्थात् एक २ महाविद्यालय (कालेज) के साथ कई प्रवेशिकाशालाएं हों और एक २ प्रवेशिकाशाला के साथ कई प्राथमिक (बालबोधक) शालाएं होवें। जैसे २ बालक आगे बढ़ते जावें, वैसे २ अन्यान्य उच्च शालाओं (विद्यालयों) में भेज दिये जांय। इसी के साथ इन महाविद्यालयों (कालेजों) में यह भी सङ्गठन रहे कि अमुक विद्यालय में व्याकरण उच्च से उच्च कक्षा तक पढ़ाया जाय, अमुक में न्याय और अमुक में साहित्य इत्यादि। जिस विषयकी पढाई जहां अच्छी से अच्छी हो सके, और जो संस्था उसका अच्छे से अच्छा प्रबन्ध कर सकती हो, उस विषय की वहां मुख्यता रक्खी जाय, और उस विषय का विद्यार्थी वहां बिना सङ्कोच भेज दिया जाय। जैसे काशी मे संस्कृत, व्याकरण व साहित्य आदि विषय के बड़े से बड़े विद्वान् थोड़े

वेतन में मिल सकते हैं और अच्छी से अच्छी पढ़ाई हो सकती है, न्याय या धर्मशास्त्र इन्दौर, सहारनपुर या मोरैना हो सकता है, तो उस २ विषय की उच्च से उच्च कक्षाएँ वहां ही रहें और अन्य संस्थाएँ अपने २ छात्रों को उन २ विषयों का अध्ययन करने के लिए वहां २ भेज देवें। इस से एक तो भारी लाभ खर्च की कमी हो जायगी, दूसरे छात्रों की दौड़-भाग बन्द हो जायगी, क्योंकि उनको नियत संस्थाओं में यदि उन विषयों को पढ़ना होगा, तो अनन्यगति से रह कर पढ़ना पड़ेगा, तीसरा बड़ा भारी लाभ यह होगा, कि छोटे बालकों के साथ बड़े २ बालकों का रहना छूट जायगा, बड़े २ और छोटे २ ही रहेंगे, इससे लाभ यह होगा कि छोटे बड़े बालकों के साथ २ रहने में जो दोष उनमें पैदा हो जाते हैं या जिनकी सम्भावना है वे बच जायँगे, हां! प्रत्येक संस्था को यह ध्यान तो सदा रखना ही होगा कि एक रूम (कमरे) में कभी दो बालकों को स्थान न दें, या तो एक में एक ही रहे या ३-३ आदि ही रहें।

ऊपर लिखे संगठित प्रबन्ध के सिवाय यह भी व्यवस्था प्रत्येक संस्था में होना चाहिए कि सहयोगिनी किसी भी संस्था से भागे या निकाले हुए छात्र को अन्य संस्था अपने यहाँ स्थान न देवें, जहाँ तक वह स्वयं वहाँ से अपनी पढ़ाई और सदाचार विषयक प्रमाणपत्र वहाँ के गृहपति मंत्री और सभापति की सही से वहां की मुहर सहित न लावे. तात्पर्य या तो वह प्रमाणपत्र लावे, या अपनी उसी संस्था में जाकर अभ्यास करे।

ऐसा करने से लाभ यह होगा, कि बालकों में उद्दण्डता, स्वेच्छाचारिता, प्रमादीपन, मिथ्याभाषिता आदि और भी दोष उत्पन्न न होने पावेंगे, तथा संस्था भी नियमित रूप से अमुक अवधि तक एक छात्र को एक ही संस्था में रहने से उसकी पुस्तकीय

शिक्षा के सिवाय सदाचार आदि सद्गुणों के लिए भी जिम्मेदार होगी, वह बड़ी सावधानी से उसकी सम्हाल रक्खेगी और उससे नियमों का पूर्णतया पालन करायेगी, बालकों को नियमोल्लंघन करने का दुःसाहस न होगा, क्योंकि अन्य संस्था उसे लेने को तैयार न होगी, इस प्रकार उस के चारित्र पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा, वह सुसंस्कृत और सुयोग्य बनेगा तथा संस्था का भी ऐसे छात्र से गौरव रहेगा।

प्रत्येक संस्था किसी न किसी अनुभवी विद्वान् त्यागी की देख रेख में रहना चाहिए, जो वहाँ अधिक से अधिक समय रह सकता हो और जिसको पठन-पाठन की पद्धति तथा छात्र और अध्यापकों के स्वभावों का ज्ञान हो, तथा जो पठन पाठन सदाचार व धार्मिक क्रिया, आचरण और शिक्षा मात्र की देख भाल रखे; क्योंकि संयमी का प्रभाव असंयमी की अपेक्षा अधिक पड़ता है, परन्तु काल-दोष से यदि ऐसा त्यागी संयमी प्राप्त न होवे, तो कोई वृद्ध अनुभवी, शिक्षा खाने निस्पृह गृहस्थ विद्वान् ही, जिसकी धार्मिकश्रद्धा व विचार आगम के अनुकूल हो, सम्हाल करता रहे।

प्रत्येक छोटी बड़ी संस्था में धार्मिक क्रियाओं और धार्मिक शिक्षा, की प्रधानता रहे, अर्थात् मर्यादा के अन्दर का विधिपूर्वक छना हुआ पानी पीना, रात्रि में औषधि और पानी के सिवाय कुछ न खाना, बाजारू अमर्यादित अशुद्ध अभक्ष्य पदार्थ न खाना, दाँतोन स्नान नियम से करना, नित्य दो बार दर्शन सामायिक करना, निजी स्वाध्याय के सिवाय कुछ समय शास्त्रसभा करना, नित्य बारी २ से और अवकाश के दिनों में सामूहिक रूप से जिन-पूजन करना, कम से कम १५ दिन में व्याख्यान सभा करके वक्तृत्व शक्ति को बढ़ाना, लेखनकला और लेख लिखना सीखना धार्मिक वादविवाद करना, शुद्ध मर्यादित भोजन दिन में मौनसे करना, पंक्तिभोजन अधिक उपयोगी होता है, इस लिये साथ बैठकर प्रसन्नता और पवित्रता से

जीमना। रसोईघर स्वच्छ हवादार प्रकाशवान होना चाहिए। रसोइया जैन हों, क्रियावान हों, कभी २ पर्वदिनों में छात्रों को एकासन तथा उपवास का भी अभ्यास कराना चाहिए, रस भी छोड़ने का अर्थात् अमुक २ रस बिना भी खाने का अभ्यास करावे, यदि प्रायश्चित देवे तो ऐसा ही देवे, तुमको इतने एकासना या उपवास करना चाहिए, तुम नमक बिना या घी बिना भोजन करना, ऐसा कराने से उनमें सहिष्णुता आती है, वे अवसर पर नीरस भोजन मिलने पर भी दुखी नहीं होते और कभी किसी स्थल पर खाद्य पेय शुद्ध न मिलने पर वे भूख से विह्वल होकर अभक्ष्य पदार्थ नहीं खाते, क्योंकि उनको भूख सहने का अभ्यास है, वे एक बार या दो एक दिन यों ही भोजन बिना बिता सकते हैं, परन्तु खाने के लिए कभी भ्रष्टाचारिता स्वीकार नहीं करते। बालकों को अनेक प्रकार के प्रश्न उठते हैं वे ही उनके ज्ञानोन्नति के हेतु होते हैं, इसलिए उनको प्रश्न करने का अवसर देना और बड़े प्रेम से उनका समाधान करना चाहिए, कभी भी प्रश्नोंकी उपेक्षा न करना चाहिये और न झुंझलाना ही चाहिए। इस प्रकार से ज्ञान और क्रिया आदि के संस्कार अवश्य ही उन में डालते रहना चाहिए। हमारी संस्थाएँ उनको धर्मपुस्तकें रटाकर पढ़ा देती हैं, परीक्षा दिला देती हैं, परन्तु उनमें भावज्ञान पैदा करने की चेष्टा नहीं करती, न धार्मिक क्रिया, आचरण, खानपान, संयम, व्रत, उपवास, सामायिक पूजादि का ही उनको अभ्यास कराती हैं, तात्पर्य, वास्तविक जैनत्व उनमें नहीं भरती हैं, यह बड़ी भारी त्रुटि है।

एक जैनेतर ब्राह्मण विद्यार्थी, अपनी संध्या गायत्री करता है, तिलक लगाता है, ठाकुरजी का भोग लगाता है, प्रसाद लेता है अर्थात् अपने धर्म और सम्प्रदायानुसार अपना आचरण रखता है और बड़ी कठिनता से अपने शरीर की रक्षार्थ मात्र भोजन वस्त्र प्राप्त करके

...यन करता है और इस प्रकार कच्चा प्रौढ़ विद्वान् भी बन जाता है, ...कि जैन छात्रको सब प्रकार का सुभीता रहता है, न भोजन की ...चन्ता, न वस्त्रपुस्तकादि की चिन्ता होती है, फिर भी हमारे छात्र न तो उन जैसे प्रौढ़ विद्वान् ही बनते हैं, न धर्मश्रद्धा और क्रियाओं में ही दृढ़ होते हैं, इसका कारण संस्थाओं का इस ओर दुर्लक्ष ही समझना चाहिए, नहीं तो क्या कारण है कि इतना आराम मिलने और बे-फिकरी होने पर भी जैन समाज के बालक सच्चे धर्मवीर कर्मशील प्रौढ़ विद्वान् न बनें ? क्या इनके क्षयोपशम नहीं है ? नहीं क्षयोपशम तो है, किन्तु संस्थाओं का दुर्लक्ष्य होने और अध्यापक गुरु, गृहपति आदि की आदर्श शिक्षा व चारित्र न होने से ऐसा होता है, इसलिए मैं समाज, संस्थाओं, छात्रों, त्यागी संयमियों और विद्वानों आदि सब का ध्यान इस ओर आकर्षित करता हुआ नम्रनिवेदन करता हूँ कि वे अपना सुधार करें। यहां मैंने छात्रों, अध्यापकों, कर्मचारियों, संस्थासंचालकों, विद्वानों और त्यागी संयमियों के सम्बन्ध में दोषों का दिग्दर्शन कराया है, उसमें मेरा अभिप्राय किसी को नीचा दिखाने, अकीर्ति करने या हानि पहुँचाने का नहीं है, किन्तु मात्र यही मेरी यही शुभ भावना है, जो ऐसे दोष दूर हो जावें और नये उत्पन्न न होने पावें तो यह पवित्र सर्वजीवहितकारक जैनधर्म आज सर्वव्यापी जैन धर्म बन जावे, विश्वधर्म हो जावे और जैन समाज आदर्श समाज उसके विद्वान् आदर्श विद्वान् और उसके त्यागी संयमी साधु जगदादर्श साधु, माने जावें पूजे जावें, ऐसा होने पर ही जैनधर्म की प्रभावना और समाज की उन्नति हो सकती है, अन्यथा जो हो रहा है सो हो रहा है और आगे भी जो होना है सो होगा, परन्तु समाज शीघ्र चेत जावे और ...क संस्थाओं का सुधार करे तो अच्छा हो। इति शुभं भूयात्—

हिताकांक्षी—

दीपचन्द्र वर्णी.